कुछ आधुनिक आविष्कार

कुछ आधुनिक आविष्कार

सत्यप्रकाश,
डी० एस-सी०,
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

हिंदुस्तानी एकेडेमी
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

प्रकाशकीय

हिंदी में विज्ञान-संबंधी साहित्य का कितना अभाव है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। प्रस्तुत पुस्तक इसी कमी को ध्यान में रख कर साधारण पाठकों और विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है।

इसमें विद्वान् लेखक ने अत्यंत सुबोध शैली में बिजली, तार, टेलिफोन, बेतार का तार, रेडियो, टेलिविज़न, सूक्ष्मदर्शक और दूरदर्शक यंत्र, फोटोग्रेफी और चित्रपट, एक्सरे, विस्फोट द्रव्य, पेट्रोल और पावर अलकोहल, सीमेंट तथा लोहा एवं विभिन्न गैस आदि, आधुनिक युग के अत्यंत महत्वपूर्ण प्रधान आविष्कारों की कुतूहलपूर्ण कहानी को पर्याप्त चित्रों के द्वारा अत्यंत रोचकता के साथ समझाया है। आशा है हिंदी संसार इसका स्वागत करेगा।

धीरेन्द्र वर्मा

मंत्री तथा कोषाध्यक्ष

भूमिका

मैं हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद का अत्यंत अनुगृहीत हूँ कि उसने 'कुछ आधुनिक आविष्कार' नामक मेरी यह पुस्तक प्रकाशित की। अँग्रेज़ी भाषा में इस प्रकार की अनेक सुन्दर पुस्तकें हैं। हिन्दी में भी कुछ पुस्तकें इस विषय की प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत पुस्तक के लेखन एवं प्रकाशन का उद्देश्य वैज्ञानिक विषयों को लोकप्रिय बनाना है। इस वैज्ञानिक युग में सभी को विज्ञान के महान् आविष्कारों से परिचित होना चाहिए। इन आविष्कारों में से कुछ की कहानी आपको इस पुस्तक के पृष्ठों में मिलेगी। पर यह न समझना चाहिए कि जिन आविष्कारों को इस पुस्तक में नहीं सम्मिलित किया जा सका, उनका मूल्य कम है। अगणित आविष्कारों में से कुछ का ही उल्लेख यहाँ किया जा सका है।

यह पुस्तक उस समय लिखी गयी थी, जब द्वितीय विश्वव्यापी महायुद्ध समाप्त नहीं हुआ था। किन्हीं कारणों से उस समय यह छप न सकी। उस महायुद्ध के समय अनेक नूतन आविष्कार जनता के समक्ष प्रयोग में आये। परमाणु-युग नाम से एक नये युग की सृष्टि हुई। संभव हुआ तो कभी इस नये युग की कहानी भी हिन्दी पाठकों को भेंट की जा सकेगी।

इस पुस्तक के अनेक चित्र श्री नारायणसिंह परिहार, प्राध्यापक, प्रयाग विश्वविद्यालय, के बनाये हुए हैं। लेखक उनके इस अनुग्रह के लिए अति आभारी है। एकेडेमी से प्रकाशित 'सौर परिवार' और 'विज्ञान हस्तामलक' से भी कुछ चित्र यहाँ लिए गए हैं।

सत्यप्रकाश

बेली एवेन्यू
प्रयाग
१६-३-५४

विषय-सूची

१—बिजली—सभ्यता का नया उदय

वर्तमान युग के निर्माण का जितना श्रेय बिजली को है उतना और किसी को नहीं। बड़े नगर में किसी के यहाँ भी चले
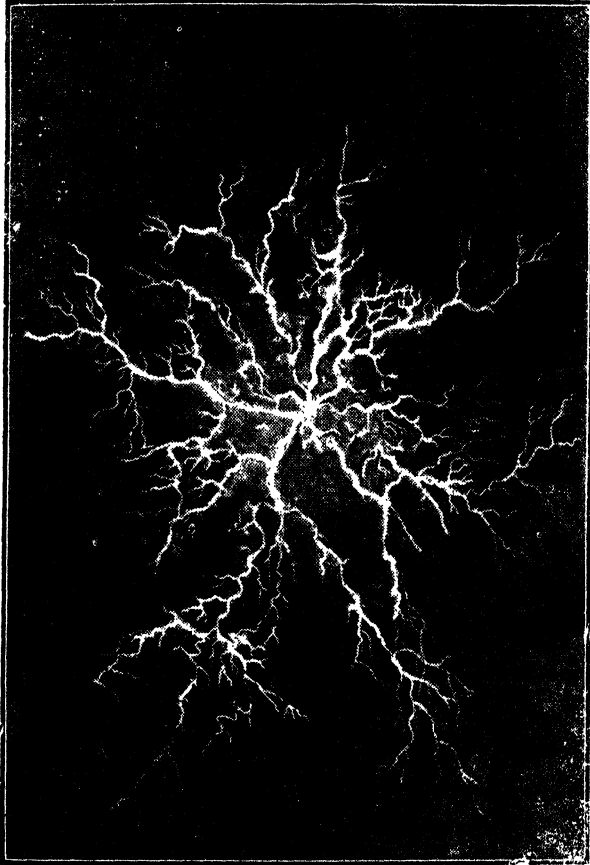
चित्र १—बिजली कौंधने का एक दृश्य

किस प्रकार चुम्बक बनायी जा सकती है। पर लोहे की छड़ के चारों ओर बिजली के तार लपेट कर लोहे में चुम्बक के गुण ला देना और भी अधिक कौतूहल की बात है। अगर ऐसा न होता तो बिजली की घंटी कैसे बजती ?
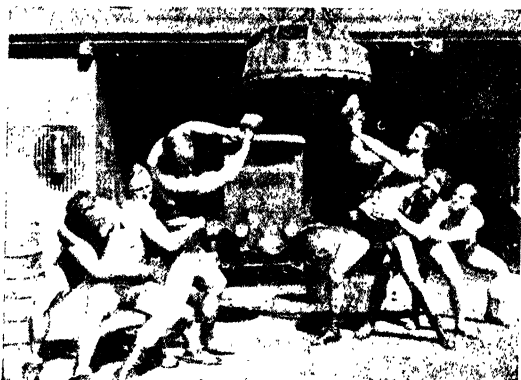
चित्र ३—एक छोटा सा भी विद्युत्-चुम्बक ६ पहलवानों से अधिक बलवान होता है।

बिजली दो प्रकार की होती है, एक स्थिर और दूसरी बहने वाली। रेशम के टुकड़े से काँच के छड़ को रगड़ने से काँच विद्युन्मय हो जाता है और काग़ज़ के छोटे टुकड़ों को अपनी ओर खींचने में समर्थ होता है। काँच पर आयी हुई यह बिजली स्थिर बिजली कहलाती है। पर वह बिजली जो बैटरी में से मिलती है—टार्च की सूखी बैटरी आपने देखी होगी—अथवा जो बिजली घर से हमारे घर में तारों में बहकर आती है वह बहने वाली बिजली है। हमारे अधिकांश काम इस बहने वाली बिजली से निकलते हैं। आकाश में जो बिजली कड़कती और चमकती है, वह बादलों

पर की स्थिर बिजली है। बादल उसी प्रकार विद्युन्मय होते हैं जैसे रेशम से रगड़ा गया काँच का टुकड़ा। ऋणात्मक और धनात्मक बिजलियाँ जब एक दूसरे के प्रभाव को मिटाने का प्रयत्न करती हैं तभी कड़क और चमक पैदा होती है।
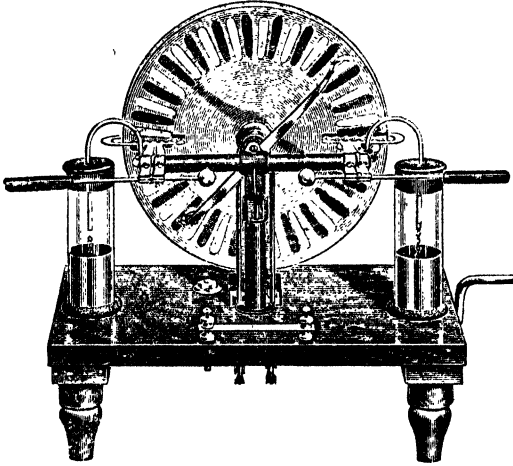
चित्र ४—विम्शर्स्ट मशीन

स्थिर बिजली पर गिलबर्ट ने बहुत से प्रयोग किए। घर्षण (रगड़) द्वारा बहुत सी बिजली तैयार करने का पहला यन्त्र ओट्टो वॉन गैरिक (Otto von Guericke) ने सत्रवहीं शताब्दी में (१६०२—८६) बनाया। उसने गन्धक का बड़ा गोला तैयार किया जिसे एक छड़ पर खड़ा किया और कपड़े से रगड़ कर इसमें बिजली पैदा की। बाद को न्यूटन ने काँच के गोले का प्रयोग किया जिसे चमड़े की गद्दियों से रगड़ा। इसके बाद काँच के छड़ों को मशीन द्वारा एक चक्र में घुमाकर विशेष गद्दियों से रगड़ा गया और इस प्रकार बिजली बनाने की मशीन बनी। इन मशीनों में जेम्स

विम्शर्स्ट (James Wimshurst) की मशीन जो लगभग १८७८ में बनी थी, अब तक प्रसिद्ध है (चित्र ४)। इस मशीन में आबनूस या काँच के प्लेट चक्र द्वारा तेज़ी से घुमाए जाते हैं और रगड़ से उत्पन्न बिजली पीतल के छड़ों पर संग्रह की जाती है। इन छड़ों पर जब बिजली अधिक इकट्ठा हो जाती है तो चिनगारियाँ छूटने लगती हैं।

रगड़ द्वारा बहुत सी बिजली बनाना तो कठिन था ही, पर उसे उपयोगी काम के लिए संग्रह करना और भी कठिन था। सन् १७४५ में लीडेन के प्रोफेसर मुशेनब्रोक (Musschenbrock) ने एक घट तैयार किया जो अब तक लीडेन घट (लीडेन जार) के नाम से प्रसिद्ध है। इसका व्यवहार स्कूलों में प्रयोग दिखाने के समय आज कल भी होता है। विम्शर्स्ट मशीन से बिजली पैदा करके इसमें संग्रह की जा सकती है।

घर्षण विद्युत् के ये प्रयोग मनोरंजक तो अवश्य रहे, पर इन से लाभ न उठाया जा सका। विद्युत् जगत् की क्रान्ति का अधिक श्रेय तो वहनशील विद्युत् को है, जिसे हम धारा-विद्युत भी कह सकते हैं। सन् १७८० में इटली की बोलोग्ना यूनिवर्सिटी के एक शरीरवेत्ता प्रोफेसर ल्यूगी गैलवानी (Luigi Galvani) ने मरे मेंढक के अंगों पर बिजली का प्रभाव देखा। बिजली की मशीन से जैसे ही इसका कोई पैर छूता, मेंढक के शरीर में सनसनीपूर्ण संकोच होने लगता। ६ वर्ष बाद गैलवानी के भतीजे केमिलो (Camillo) ने एक प्रयोग किया। उसने ताँबे के तार से एक मेंढक लटकाया। मेंढक के पैर के निकट लोहे की पटरी पड़ी थी। केमिलो को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि जब-जब मेंढक का पैर लोहे की पटरी से छू गया, मेंढक के शरीर में उसी प्रकार का सनसनीपूर्ण संकोच हुआ जैसा कि गैलवानी के प्रयोग में, पर इस प्रभाव को प्रकट करने के लिए बिजली कहाँ से आयी?

कुछ वर्षों के अनन्तर ऐलीस्सेण्ड्रो वोल्टा (Alessandro Volta) नामक दूसरे इटलीवासी ने १७९६ में केमिलों के प्रयोगों को दुहराया। उसे पता चला कि जब-जब दो भिन्न धातुयें परस्पर संपर्क में आती हैं, बिजली की धारा उत्पन्न हो जाती है। केमिलों के प्रयोग में ताँबे और लोहे के संपर्क से बिजली की धारा उत्पन्न हुई थी। ये दोनों धातुयें जब परस्पर संपर्क में आती हैं तो इनमें से एक धनात्मक और दूसरी ऋणात्मक बिजली वाली हो जाती है। उसने कई धातुओं के गोल पैसे लिए। एक पैसे पर फलालेन का कपड़ा और फिर इस पर दूसरी धातु का पैसा, इसी प्रकार क्रम से भिन्न-भिन्न धातुओं के पैसे बीच में कपड़ा दे-देकर के रक्खे (चित्र ५)। वोल्टा ने देखा कि यदि इस प्रकार की पंक्ति के सिरों को तार से जोड़ा जाय तो बिजली की धारा निरन्तर बहती रहेगी। वोल्टा के इस प्रयोग ने धारा-विद्युत् को जन्म दिया। कुछ और प्रयोग करके वोल्टा को पता चला कि और भी तेज़ बिजली की धारा तब मिल सकती है जब भिन्न-भिन्न धातु के पैसों के समूह को तेज़ाब में डुबो कर रक्खा जाय। वोल्टा के इस प्रयोग ने बिजली की बैटरियों को जन्म दिया। वोल्टा की बैटरी का नाम वोल्टा-सेल पड़ा। इसका उपयोग कुछ सुधारों के साथ आज भी किया जाता है।
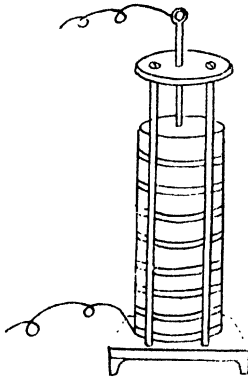
चित्र ५—वोल्टा की बैटरी (मोटे पैसों से बनी)

काँच के एक घट में थोड़ा सा हलका गन्धक का तेज़ाब लिया जाता है, और उसमें एक प्लेट जस्ते का (य) और दूसरा ताँबे का (क) लटकाते हैं (चित्र ६)। यदि दोनों प्लेटों को ऊपर से तार

से जोड़ दिया जाय तो बिजली की धारा बहने लगती है। इस धारा से हम आज अपनी बिजली की घंटी बजा सकते हैं। जैसे ऊपरी तल से बहकर पानी नीचे के तल में पहुँचता है, इसी प्रकार बिजली के भी तल होते हैं जिन्हें पोटेन्शल या अवस्था कहते हैं। ताँबा ऊँचे तल पर होता है, इसे हम धनात्मक कहेंगे। जस्ता इसकी अपेक्षा नीचे तल पर होता है, इसे हम ऋणात्मक कहेंगे। बिजली की धारा घट के बाहर ताँबे से जस्ते की ओर बहती है। तेज़ाब के घोल के भीतर यह धारा जस्ते से ताँबे की ओर बहेगी, और इस प्रकार धारा का चक्कर पूरा हो जायगा। जब-जब धारा को पूरे चक्कर में बहने का अवसर मिलेगा, यह बहने लगेगी। पर यदि हम तार को बीच में से तोड़ कर चक्कर भंग कर दें, तो धारा का बहना भी रुक जायगा।
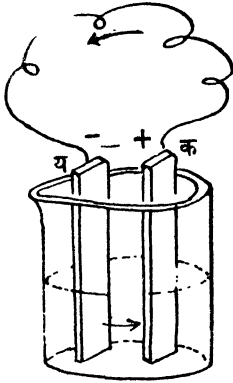
चित्र ६—साधारण बैटरी (धारा की दिशा)

कभी नल से पानी धीरे-धीरे गिरता है, और कभी ज़ोर से। पानी का ज़ोर इस बात पर निर्भर है कि यह कितने दबाव से ढकेला जा रहा है। इसीप्रकार बिजली कितने ज़ोर से आ रही है, इसे हम *वोल्ट* (volt) में नापते हैं। इस इकाई का नाम वोल्टा के नाम पर पड़ा है। हमारे घरों में बिजली २२० वोल्ट की आया करती है और हमारे बिजली वाले बल्ब भी इसी प्रकार के बने होते हैं जो इस ज़ोर को सह सकें।

हम बिजली को कैसे नापते हैं

आप यह नाप सकते हैं कि आपके नल में से प्रति मिनट कितना पानी गिर रहा है। इसी प्रकार तारों में से प्रति सैकंड बिजली की कितनी मात्रा बह रही है, इस बात को नापने की इकाई

का नाम एम्पीयर (ampere) है। यह नाम भी ऐम्पीयर नामक व्यक्ति के नाम पर पड़ा है।

बिजली सभी तारों में एक समान आसानी से नहीं बह पाती। हर एक तार में बहते समय इसे कुछ बाधा का सामना करना पड़ता है। इस बाधा को नापने की इकाई का नाम ओह्म (ohm) है। ओह्म और एम्पीयर की नापों की सहायता से हम वोल्ट का अनुमान कर सकते हैं। १ ओह्म बाधा वाले तार में से १ एम्पीयर बिजली जितने ज़ोर से बहायी जा सकेगी उसे हम १ वोल्ट कहेंगे।
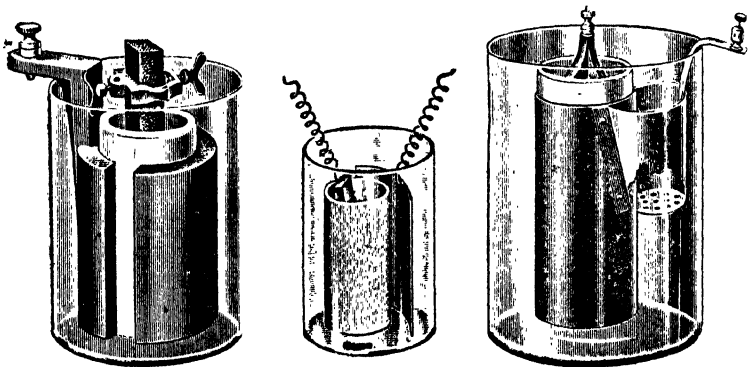
चित्र ७—विभिन्न बैटरियाँ

वोल्टा की बैटरी ने नये युग का आरंभ तो कर दिया पर यह बैटरी बहुत काम की न थी, इसकी धारा जल्द रुक जाती थी। बाद को बहुत सी और बैटरियाँ बनायी गयीं

तरह-तरह की बैटरियाँ जैसे डाइक्रोमेट सेल, डेनियल सेल आदि। पर इनमें से सबसे अधिक महत्त्व की लेक्लांशी सेल (Leclanché cell) है, और इसका बहुत व्यवहार होता है।

काँच के घट में नौसादर (अमोनियम क्लोराइड) का घोल लेते हैं। इसमें एक छड़ पारा किए हुए जस्ते की खड़ी करते हैं। इसी घोल में एक रन्ध्रमय (छेदीला) बर्तन भी खड़ा करते हैं जिसमें कार्बन का एक प्लेट होता है। पिसे कार्बन और मैंगनीज़ डाइ-ऑक्साइड का मिश्रण इस रन्ध्रमय बर्तन में भरा रहता है। कार्बन प्लेट धनात्मक और जस्ते की छड़ ऋणात्मक होती है। घरों में बिजली की घण्टी और टेलीफोन के लिए यह सेल बड़े काम की है।

लेक्लांशी सेल का सबसे अधिक उपयोग तो सूखी-बैटरियों में किया गया है (चित्र ८) जिनका व्यवहार टॉर्च में और सायकिल की बिजली वाली लैम्पों में होता है। इन बैटरियों को बिलकुल सूखा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि बिलकुल सूखी होने पर तो बिजली की धारा बह ही नहीं सकती। इन सूखी बैटरियों में जस्ते की छड़ का स्थान तो जस्ते की बनी वह डिबिया ले लेती है जिसमें मसाला भरा होता है। नौसादर का घोल न लेकर के नौसादर और स्टार्च की लेई बैटरी में भरते हैं और हमेशा नम बनाए रखने के लिए इसमें जिंक क्लोराइड के समान कोई मसाला और डाल देते हैं। यह मसाला हवा से नमी सोखता रहता है। इस मसाले के बीच में कार्बन का छड़ होता है।

चित्र ८—सूखी बैटरी

संग्राहक—मोटर की बैटरियाँ

लेक्लांशी सेल या सूखी बैटरियों को प्राथमिक सेल (प्राइमेरी सेल) कहते हैं। इनमें रासायनिक योग के कारण बिजली की धारा पैदा होती है। मोटर में जिन बैटरियों का प्रयोग होता है वे इस प्रकार की नहीं होतीं। वे अपने रासायनिक द्रव्यों से बिजली नहीं

बनाती। ऐसा समझना चाहिए कि उनमें पहले बिजली भरी जाती है और फिर इस बिजली से काम निकाला जाता है। कुछ समय के बाद भरी हुई बिजली सब ख़तम हो जाती है—इसे बैटरी का "ख़तम" या *डिस्चार्ज* होना कहते हैं। अब फिर हम इसमें बिजली भर सकते हैं—अर्थात् बैटरी फिर से चालू या *चार्ज* की जा सकती है। ऐसी बैटरियाँ जिन्हें बार-बार बिजली द्वारा चार्ज किया जा सके, द्वैतीयिक सेल (सेकेंडरी सेल) या संग्राहक (एक्युमुलेटर) कहलाती हैं। प्लैंटे (Planté) नामक वैज्ञानिक ने १८७८ में सबसे पहला संग्राहक बनाया था। इसमें उसने सीसे के दो धातु पत्रों और गन्धक के हलके
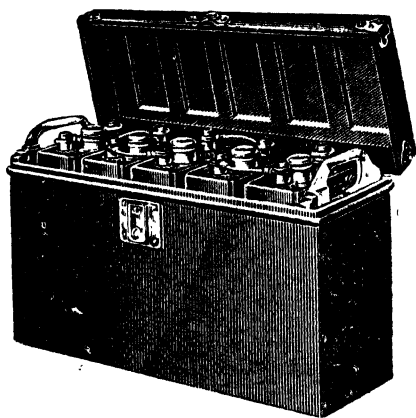
चित्र ६—मोटर की बैटरी

तेज़ाब का उपयोग किया। इस संग्राहक में जब बिजली की धारा भेजी गयी, तो एक धातुपत्र छेदीला (स्पंज सा) हो गया, और अब यह संग्राहक काम लायक़ बन गया।

सन् १८८१ में फॉरे (Faure) ने इस संग्राहक में सुधार किए। उसने सीसे के एक प्लेट पर लेड-ऑक्साइड चढ़ाया। मोटर की बैटरियाँ इसी प्रकार के संग्राहक हैं। हर एक मोटर की बैटरी वस्तुतः ५-६ बैटरियों के योग से बनी होती हैं (चित्र ६) और प्रत्येक बैटरी एक संग्राहक होती है। हर एक बैटरी २ वोल्ट के दबाव की बिजली देती है। यदि ६ बैटरियों के योग का प्रयोग किया गया है तो कुल १२ वोल्ट का दबाव मिल जाता है। इन बैटरियों का ऐसिड थोड़े

दिनों में हलका पड़ जाता है और तब दूसरा ऐसिड भरना चाहिए। अगर ऐसिड ख़राब न हुआ हो तो डिस्चार्ज हुई बैटरी को हम घर
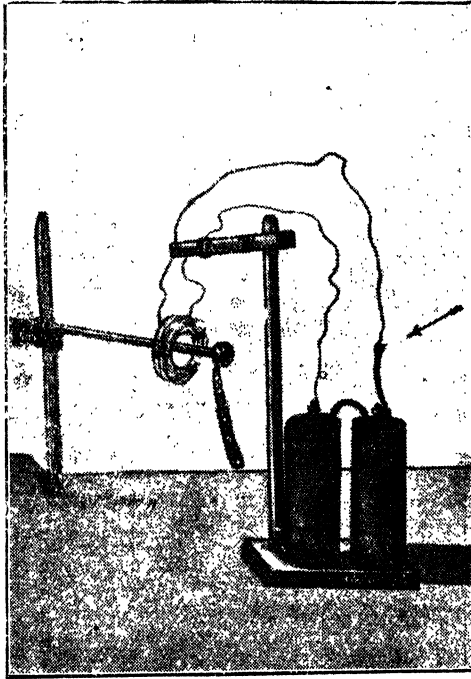
चित्र १० - धारा बँधी रहने से लोहे का छड़ चुंबक बन जाता है और चाकू को खींच लेता है।

में अपने बिजली घर वाले तारों से बिजली लेकर फिर चार्ज कर सकते हैं। इस प्रकार के संग्राहक या ऐक्यूम्यूलेटरों ने बैटरियों के उपयोग में कितनी सरलता ला दी है, इसका हम आज अनुमान भी नहीं कर सकते। रेल और रेलवे स्टेशनों पर इन संग्राहकों

का हज़ारों की संख्या में उपयोग होता है। जहाँ बिजलीघर न हों वहाँ इनके द्वारा बिजली पहुँचायी जा सकती है। पनडुब्बियों और हवाई जहाजों में इनका प्रयोग होता है। टेलीफोन और रेडियो के यंत्रों में इनका उपयोग होता है। ऐसी जगहों पर जहाँ बिजलीघर के तार न पहुँचे हों, भोंपू या लाउड स्पीकरों को संग्राहकों की बिजली से चालू किया जा सकता है। बिजलीघर यदि कभी फेल कर जाय तो अस्पतालों थियेटरों, पागलखानों और बैंकों का काम कभी न रुकेगा यदि वहाँ संग्राहकों का पहले से प्रबन्ध है। आकस्मिक सावधानियों के लिए इनका सार्वजनिक स्थानों में रहना नितांत आवश्यक है।
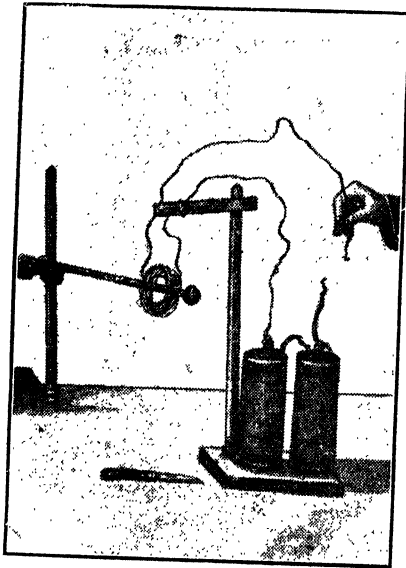
चित्र ११—धारा तोड़ देने से छड़ का चुम्बकत्व नष्ट हो जाता है और चाकू छूट कर गिर जाता है।

डायनेमो कैसे बन सके

यह ठीक है कि रासायनिक द्रव्यों के उपयोग से बनी बैटरियों से हम बिजली पा सकते हैं और टॉर्च आदि में इसका उपयोग भी कर सकते हैं, पर फिर भी बिजली के हमारे सारे काम इससे

चल नहीं सकते। अगर डायनेमो या विद्युत-उत्पादकों का जन्म न होता तो बिजली को वह महत्त्व कभी प्राप्त न हो सकता जो इस समय है। डायनेमो कैसे बन सके, यह समझने के लिए हमें ऑयर्स्टेड (Oersted) के उस प्रयोग की ओर जाना पड़ेगा जो उसने १८१६ में किया था। कोपनहेगन विश्वविद्यालय के इस वैज्ञानिक ने यह दिखाया कि बिजली की धारा से चुम्बकीय प्रभाव उत्पन्न किए जा सकते हैं। हम यह जानते हैं कि कुतुबनुमा की सुई के पास यदि कोई चुम्बक लाया जाय तो सुई दायें-बायें हटने लगती हैं। पर यह कोई नयी बात नहीं क्योंकि कुतुबनुमा की सुई भी चुम्बक है, और एक चुम्बक तो दूसरे चुम्बक पर प्रभाव डाल ही सकता है। विचित्र बात तो ऑयर्स्टेड ने यह देखी कि यदि बैटरी का तार जिसमें बिजली की धारा बह रही हो, कुतुबनुमा के पास लाया जाय, तो भी चुम्बक की सुई दायें-बायें— दक्षिणावर्त्त या वामावर्त्त—घूमने लगती है। सुई का दक्षिणावर्त्त या वामावर्त्त घूमना इस बात पर निर्भर है कि तार में धारा किस दिशा में बह रही है, और तार कुतुबनुमा के ऊपर से जा रहा है अथवा नीचे से। इस प्रयोग से स्पष्ट हो गया कि बिजली जब तार में होकर बहती है तो उसके चारों ओर एक चुम्बकीय क्षेत्र भी उत्पन्न कर देती है।
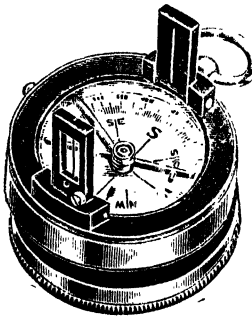
चित्र १२—कुतुबनुमा

ऑयर्स्टेड ने यह भी देखा कि जिस तार में बिजली बह रही है उसके पास यदि लोहे का हल्का चूरा रक्खा जाय तो वह खिंच कर तार से चिपक जायगा। पर ज्यों ही तार में धारा बहाना बन्द कर दिया जाय, लोहे का चूरा फिर छूट कर तार से अलग हो जायगा।

यह प्रयोग थे तो साधारण, पर बड़े ही महत्त्वपूर्ण। विद्यु विज्ञान के विकास में इन्होंने बीज का काम किया। बड़े-बड़े विद्यु चुम्बक इस प्रयोग के आधार पर बने। धारामापक और धार सूचक यन्त्रों को इसने जन्म दिया जिन्हें गैलवेनो मीटर (धारासूचक यन्त्र), वोल्ट मीटर, एम्मीटर आदि कहते हैं। इन यंत्रों में घोड़े की नाल के आकार का चुम्बक रहता है। इसके सिरों के बीच की जगह में ताँबे के तार की एक वेष्ठन या कुंडली (कॉयल) रक्खी होती है। तार के वेष्ठन में जैसे ही बिजली की धारा बहती है, तार के वेष्ठन का एक पार्श्व उत्तरी ध्रुव और दूसरा पार्श्व दक्षिणी ध्रुव के समान व्यवहार करने लगता है। चुम्बक बनते ही यह कुंडली नाल चुम्बक की ओर खिंचने लगती है। वेष्ठन का संबंध एक लंबी सुई से भी होता है। वेष्ठन की गति से यह सुई भी दायें-बायें घूमने लगती है। सुई की गति देख कर हम यह जान लेते हैं कि वेष्ठन में धारा बह रही है या नहीं, और बह रही है तो कितने वोल्ट की है, या कितने एम्पीयर की है। तीनों बातें जानने के लिए तीन अलग-अलग यंत्र बनते हैं, जिनमें वेष्ठनों का ही भेद है। जिस यंत्र से धारा के अस्तित्व की सूचना मिलती है उसे गैलवेनोमीटर कहते हैं। इतने सुकुमार गैलवेनोमीटर भी बनाए गए हैं जो सूक्ष्म से सूक्ष्म धारा भी जता सकें। जिस यंत्र से हम यह नापते हैं कि बिजली किस दबाव पर आ रही है (अर्थात् अवस्था-भेद कितना है) उसे वोल्टमीटर कहते हैं। कुल कितनी बिजली प्रति सेकंड तार में हो कर बह रही है यह जानने वाले यंत्र का नाम एम्मीटर या एम्पीयर-मीटर है। एम्मीटर के वेष्ठन में तार के घेरों की संख्या बहुत कम होती है,
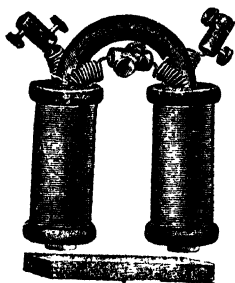
चित्र १३—विद्युत् चुम्बक

और इसलिए इस तार की बाधा भी सापेक्षतः कम होती है। गैलवेनोमीटर, वोल्टमीटर और एम्मीटर बिजली के कारखाने के बाट-तराजू हैं।

अकेले ऑयर्स्टड के काम ने डायनेमो का आविष्कार तो न कराया, पर विद्युत् और चुम्बक में संबंध अवश्य स्थापित कर दिया। फैरेडे (Faraday) नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक को ऑयर्स्टड के प्रयोगों में विशेष रुचि थी। ऑयर्स्टड के प्रयोगों से यह स्पष्ट हो गया कि बिजली की धारा से चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न हो सकते हैं, पर फैरेडे ने इस प्रश्न को उलट दिया। उसने सोचा कि क्या चुम्बकीय क्षेत्र से बिजली की धारा भी उत्पन्न हो सकती है? दोनों में सम्बन्ध तो अवश्य है इस पर उसे विश्वास था। उसने १८३१ में प्रयोग आरंभ किए। उसने तार के एक वेष्ठन के दोनों सिरे गैलवेनोमीटर (धारा-सूचक) से संयुक्त कर दिए। बाद को उसने देखा कि यदि वेष्ठन को नाल-चुम्बक के ध्रुवों के बीच में स्थिर रखते हैं तब तो गैलवेनोमीटर में बिजली की धारा के अस्तित्व का संकेत नहीं मिलता है, पर यदि कुंडली को थोड़ा सा आगे खींचा जाय तो इसमें बिजली की धारा क्षण भर के लिए पैदा हो जाती है— गैलवेनोमीटर की सुई एक ओर घूमने लगती है। अब यदि वेष्ठन पीछे की ओर खिसकायी
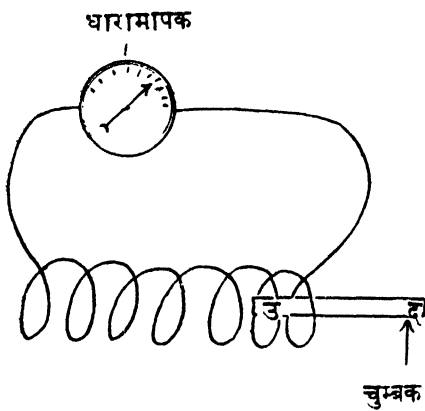
चित्र १४—किसी स्थायी चुम्बक की सहायता से तार के वेष्ठन में विद्युत्-धारा उपपादित करना

जाय तो फिर धारा तार में पैदा होती है, पर अब की सुई दूसरी ओर घूमती है। जब तक वेष्ठन में गति है, तबतक ही इसमें धारा रहती है। यही प्रयोग दूसरी तरह भी कर सकते हैं। वेष्ठन को स्थिर रखा जाय, पर नाल-चुम्बक को आगे- पीछे हटाया जाय। अच्छा तो यह होगा कि वेष्ठन के मध्य के भाग में एक सीधा चुम्बक अन्दर-बाहर खिसकाया जाय (चित्र १५)। जब तक चुम्बक में गति रहेगी, वेष्ठन में बिजली की धारा बहती रहेगी। इस प्रकार उत्पन्न धाराओं को उपपादित धारा (इंड्यूस्ड करेंट) कहते हैं, क्योंकि चुम्बक द्वारा उत्पन्न किए गए आवेश से ये पैदा होती हैं। माइकल फैरेडे के १८३१ के इस आविष्कार ने उसका नाम अमर कर दिया। सन् १९३१ में उसके इस आविष्कार
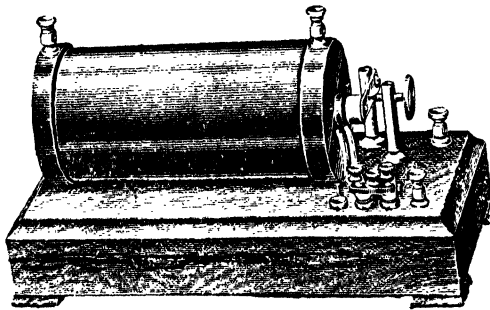
चित्र १५—उपपादन वेष्ठन (इंडक्शन कॉयल)

की शताब्दी संसार में बड़ी धूमधाम से मनायी गयी थी। इस प्रयोग ने डायनेमो को जन्म दिया जिसका विवरण हम आगे देंगे। इसी के आधार पर इंडक्शन कॉयल या उपपादन वेष्ठन बना जिससे हमें आवर्त्त धारायें (या उलटी-सीधी धारायें) प्राप्त होती हैं। (चित्र १६)।

ए० सी० और डी० सी० डायनेमो

यह हम कह चुके हैं कि कुंडली में तब तक ही आवेशधारा रहती है जब तक चुम्बक गतिमान रहता है। अब प्रश्न यह है कि धारा के प्रवाह को किस प्रकार स्थायी रूप दिया जाय। कोई ऐसी मशीन बननी चाहिए जिससे या तो चुम्बक बराबर चलाया जाता रहे अथवा कुंडली बराबर घुमायी जाती रहे। फैरेडे ने यह समस्या सुलझानी आरम्भ की। उसने अपना सर्वप्रथम डायनेमो ताँबे के एक पहिये को नाल-चुम्बक के ध्रुवों के बीच में घुमा कर बनाया। इसमें जो बिजली पैदा हुई उसे काम में लाने के लिए उसने धातु की दो कमानियाँ लगायीं—एक को पहिये की परिधि से लगाया और दूसरे को धुरी से। धारा कभी तो परिधि से धुरी की ओर बहती थी, और कभी धुरी से परिधि की ओर। पहिये के प्रत्येक पूरे चक्कर में धारा की दिशा इस प्रकार दो बार बदल जाती थी।

फ़ैरेडे का यह डायनेमो सिद्धांत की दृष्टि से तो ठीक था पर इसमें बिजली बहुत कम पैदा होती थी। ताँबे के पहिये को फ़ैरेडे ने अब डायनेमो से निकाल दिया और इसके स्थान पर उसने तार की कुंडली का समूह लगाया। इस कुंडली के समूह को *आरमेचर* कहते हैं। बिजली के पंखों में तारों के जाल से गुंथा हुआ आरमेचर आपने देखा होगा। इस आरमेचर को चुम्बक के उत्तर और दक्षिण ध्रुवों के बीच में जोर से घुमाया गया। कुंडली के प्रत्येक तार के दोनों सिरे धातु-पत्र के दो वलयों से सयुक्त थे। आरमेचर में ऐसा प्रबन्ध होता है कि कोई तार एक दूसरे को न छुये। इस काम के लिए विद्युत-अवरोधक पदार्थों का (जैसे शेलक या लाख) उपयोग करते हैं, और तार पर डोरे भी लपटे होते हैं। ये तार आरमेचर को धुरी से भी पृथक् रक्खे जाते हैं। प्रत्येक धातु-

वलय के साथ धातु की एक पत्ती भी लगी होती है जिसे ब्रश या बुरुश कहते हैं। यह पत्ती सब तारों से बिजली ग्रहण कर लेती है, और यहीं से बिजली आगे पहुँचती है। चाहे इसे रोशनी के बल्बों के लिए काम लाइए, या चाहे इससे पंखे चलवाइए।
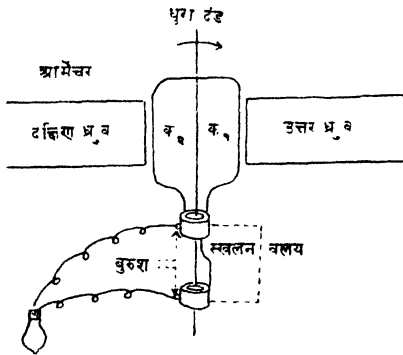
चित्र १६—ए० सी० धारा उत्पन्न करने का सरल विधान

हम कह चुके हैं कि आरमेचर के एक पूरे चक्कर लगाने में बिजली की धारा की दिशा बदल जाती है। पहले आधे चक्कर में बिजली एक दिशा में घूमती है, और दूसरे आधे चक्कर में दूसरी ओर। डायनेमो में आरमेचर प्रति मिनट सैकड़ों चक्कर लगाता है। इसलिए इससे उत्पन्न धारा प्रतिक्षण अपनी दिशा बदलती रहती है। ऐसे डायनेमो से उत्पन्न धारा को 'उलटी-सीधी धारा' या प्रत्यावर्त्त धारा कहते हैं। अंग्रेज़ी में इसे 'ऑलटरनेटिंग करेंट' या ए० सी० कहते हैं
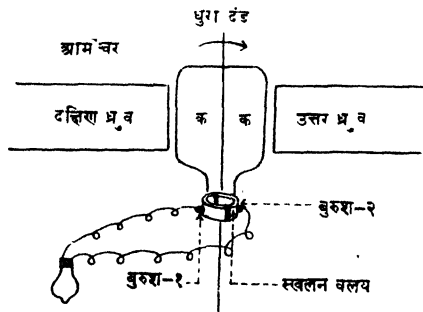
चित्र १७—ए० सी० धारा तैयार करने का सरल विधान

सर्वदा एक ही दिशा में बहने वाली धारा को सीधी धारा या 'डायरेक्ट

करेंट' कहते हैं। इसी का नाम डी०सी० है। कुछ शहरों के बिजली घर डी० सी० बिजली देते हैं और कुछ के ए० सी०। अगर आपके तारों में ए० सी० बिजली आ रही है तो आपको अधिक सावधान रहने की आवश्यकता होगी। भूल से यदि आपका हाथ
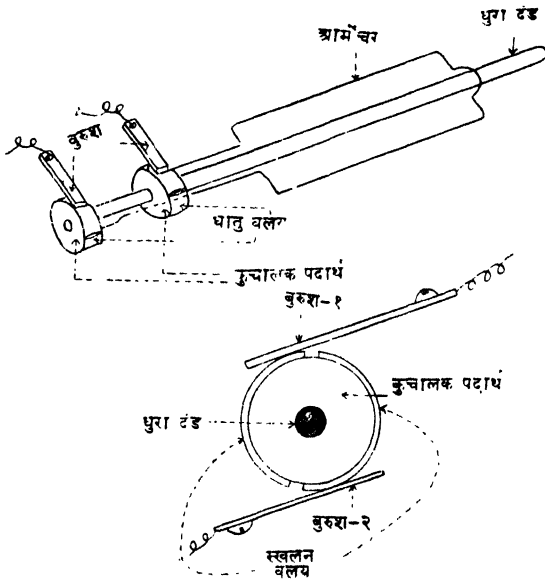
चित्र १८—ऊपर वाला—डायनेमो के बुरुश किस प्रकार धातु वलयों से धारा संग्रह करते हैं।

नीचे वाला—साधारण कम्यूटेटर। स्खलन वलय के दो भाग देखिए।

ऐसे स्थान पर पड़ जाय जहाँ बिजली 'लीक' हो रही है (चू रही है) तो आपका हाथ वहाँ चिपक जायगा। डी० सी० बिजली ऐसी स्थिति में केवल धक्का पहुँचाती है, अर्थात् 'शॉक' देती है।

जो डायनेमो प्रत्यावर्त्तक धारा देते हैं उन्हें ऑलटरनेटर या प्रत्यावर्त्तक कहते हैं। इसमें ही थोड़ा सा परिवर्तन करके ऐसा डायनेमो भी बनाया जा सकता है जो सीधी धारा (डी० सी०) ही दे। सीधी धारा वाले डायनेमो में दो धातु वलयों के स्थान में एक ही धातु वलय होता है और धातु वलय दो भागों में विभक्त रहता है (चित्र १५-१७)। कुंडली के तारों का एक-एक सिरा वलय के एक-एक अर्ध भाग से संयुक्त रहता है। कुंडली के घूमते समय हर एक ब्रश भी एक-एक अर्ध भाग पर लगी अलग-अलग पत्ती के संपर्क में आता है। चित्र १८ में कुंडली के आधे चक्कर में, मान लीजिए कि धारा बुरुश—१ से लैंप की दिशा में बह रही है। दूसरे आधे चक्कर में धारा की दिशा बदल जायगी, पर अब बुरुश—१ भी तो दूसरे अर्ध भाग पर लगी पत्ती पर आ जायगा, और इसलिये अब भी धारा बुरुश—१ से लैंप की ओर ही बहती रहेगी। धारा बुरुश—१ से निकल कर बल्ब में और वहाँ से बुरुश—२ में होती हुई लौटकर अपना चक्कर पूरा कर डालेगी। डी० सी० जनरेटर या डायनेमो जिस सिद्धांत पर काम करते हैं, उनका यह संक्षिप्त सरल विवरण दिया गया है। वस्तुतः ए० सी० बिजली को डी० सी० बिजली में परिवर्तन करना इतना आसान नहीं है। जिन यंत्रों से यह काम संपन्न होता है उन्हें धारा परिवर्त्तक या कम्यूटेटर कहते हैं। आजकल डी० सी० बिजली के डायनेमो में आरमेचर घूमता है और चुम्बक स्थायी रहता है। पर ए० सी० बिजली के डायनेमो में चुम्बक (जिसे 'रोटर' कहते हैं) घूमता है और आरमेचर (जिसे 'स्टेटर' कहते हैं) स्थिर रहता है।

डायरेक्ट करेंट (डी० सी०) के डायनेमो तो अपनी ही बिजली से चुम्बकों को जीवन प्रदान करते हैं, पर ए० सी० डायनेमो के चुम्बक अपना चुम्बकत्व उत्पन्न करने के लिए किसी दूसरे डी०

सी० डायनेमो से ही बिजली ले सकते हैं। इस काम के लिए जिस डायनेमो का उपयोग ए० सी० बिजलीघरों में किया जाता है उसे *एक्साइटर* कहते हैं।

अब प्रश्न यह है कि ए० सी० या डी० सी० बिजली पैदा करने के लिये आरमेचर को ज़ोरों से घुमाने की आवश्यकता पड़ेगी पर यह काम कैसे किया जाय ? हम भाप से चलने वाले अथवा पानी के प्रवाह से घूमने वाले चक्र-यंत्र (टरबाइन) का उल्लेख कर चुके हैं। अतः पानी या भाप से बिजली पैदा करने का अर्थ यही है कि इनकी गति से डायनेमो के आरमेचर घूमेंगे और इन आरमेचरों के चुम्बकीय क्षेत्र में घूमने पर बिजली पैदा होगी।

नगर में धारा का वितरण

बिजलीघरों में डायनेमो से ए० सी० या डी० सी० बिजली तैयार तो हो गयी, अब इसे नगर में भेजना है। डायनेमो में पैदा हुई बिजली को ताँबे के तार (केबिल) द्वारा धातुओं के वर्गाकार छड़ों में ले जाते हैं। इन छड़ों को 'बसबार' कहते हैं। ये बसबार मुख्य स्विच बोर्ड में संयुक्त रहते हैं। इन स्विच बोर्डों में और भी बहुत से तार लगे होते हैं जिन्हें 'फीडर केबिल' या सहकारी तार कहते हैं। इन तारों द्वारा बिजली का बाहर वितरण होता है।

डी० सी० बिजली बहुधा ४०० या ५०० वोल्ट पर तैयार की जाती है। इसे वितरण करने के लिए तीन तारों का उपयोग करते हैं। पहला और तीसरा तार तो धनात्मक और ऋणात्मक बस-बारों से संयुक्त होता है और मध्य तार ताँबे की लम्बी पट्टी द्वारा ज़मीन से छुआ दिया जाता है। मध्य तार प्रथम और तीसरे तार से दो मशीनों द्वारा संयुक्त रहता है जिन्हें बैलेन्सर कहते हैं। बैलेन्सरों की सहायता से मध्य तार के दोनों ओर बिजली बराबर

विभक्त होती रहती है। मान लीजिए कि बिजलीघर में ४४० वोल्ट पर बिजली बनी। अर्थात् पहले और तीसरे तार के बीच में ४४० वोल्ट का दबाव है। बीच का तार पृथ्वी से छू रहा है। अतः बीच वाले तार और पहले तार के बीच में, और इसी प्रकार बीच वाले तार और तीसरे तार के बीच में २२०—२२० वोल्ट का क्रमशः दबाव होगा।

बैलेन्सर ऐसी दो डी० सी० मशीनें होती हैं जो डायनेमो और मोटर दोनों का काम कर सकती हैं, और ये आपस में सहयोग से काम करती हैं। जब ऊपर बताये 'तीन तार' वाली आयोजना में एक ओर (मान लीजिए धनात्मक की ओर) बिजली का बोझ (लोड) अधिक हो जाता है, तो उधर का वोल्टेज कम हो जायगा, और ऋणात्मक ओर का बैलेन्सर काम करने लगेगा। कौन सी मशीन कब बैलेन्सर बन जाती है, और कब मोटर – यह सब अपने आप होता रहता है और इस प्रकार ऋणात्मक और धनात्मक दोनों ओर बिजली का दबाव एक सा बना रहता है।

ट्रान्सफ़ॉर्मर क्या काम करते हैं ?

ए० सी० बिजली किफायत की दृष्टि से २००० या अधिक वोल्ट की तैयार की जाती है। घर के साधारण कामों के लिए इतना वोल्टेज बहुत अधिक है, और इसलिए कोई ऐसी मशीन चाहिए जो बिजली की मात्रा को तो कम न करे पर वोल्टेज को कम कर दे। यह काम ट्रान्सफॉर्मर यंत्र द्वारा निकाला जाता है।

ट्रान्सफॉर्मर बनाने के सिद्धान्त का श्रेय भी माईकेल फैरेडे को है। उसने लोहे के गोल छड़ पर तारों की दो कुंडलियाँ लपेटीं (चित्र १६)। एक कुंडली के दोनों सिरों को उसने बैटरी से संयुक्त कर दिया। दूसरी कुंडली के दोनों सिरों को उसने गैलवेनो-

चित्र १६—ट्रान्सफ़ॉर्मर का साधारण सिद्धान्त
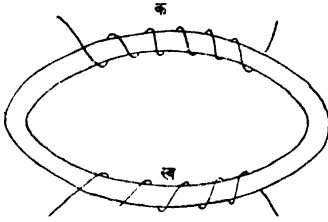
मीटर (धारा सूचक) से जोड़ा। पहली कुंडली में जैसे ही बिजली की धारा भेजी गयी, गैलवेनोमीटर की सुई हिलने लगी जिससे स्पष्ट हो गया कि कहीं से दूसरी कुंडली में भी बिजली की धारा पैदा हो गयी है। एक कुंडली की धारा ने दूसरी कुंडली में *"आवेश धारा"* (इंडयूस्ड करेंट) पैदा कर दी। इस प्रयोग ने ट्रान्सफ़ॉर्मरों को जन्म दिया।

पहली कुंडली को जिसमें बिजली की धारा बैटरी से गई थी, हम प्राथमिक कुंडली (प्राइमरी कॉयल) कहेंगे, और दूसरी कुंडली को जिसमें धारा आवेश से उत्पन्न हुई, हम द्वैतीयिक कुंडली (सैकंडरी कॉयल) कहेंगे। यह बात बड़ी विलक्षण देखी गयी कि यदि दोनों कुंडलियों में तारों के लपेट की संख्या बराबर हो तो दोनों की धारायें भी एक ही वोल्ट की होंगी। पर यदि एक कुंडली में दूसरे की अपेक्षा १० गुने अधिक लपेट हैं तो इसकी धारा का वोल्टेज भी दस गुना होगा।

मान लीजिए कि डायनेमो से २००० वोल्ट वाली उत्पन्न बिजली प्राथमिक कुंडली में भेजी गयी। द्वैतीयिक कुंडली इस प्रकार की ली गयी जिसमें तार के लपेटों की संख्या प्राथमिक के लपेटों की संख्या का $\frac{1}{10}$ है। तो इस द्वैतीयिक कुंडली में उत्पन्न आवेश धारा का वोल्टन २०० ही होगा (प्राथमिक के वोल्टन का $\frac{1}{10}$)। ट्रान्सफ़ॉर्मर इसी सिद्धान्त पर बनाए जाते हैं। उनकी प्राथमिक कुंडली में तार अधिक लपेटों के होते हैं, और द्वैतीयिक में कम।

यह याद रखना चाहिए कि यदि किसी धारा का वोल्टन बढ़ा दिया जाय तो एम्पीयर मात्रा उसकी कम हो जायगी। अगर किसी धारा की माप १०० वोल्ट पर १० एम्पीयर है, तो यदि वोल्टेज १००० कर दिया जाय तो उसकी एम्पीयर मात्रा १ हो जायगी। हम बिजली की सामर्थ्य को बहुधा वाट (Watt) में नापते हैं। वोल्टेज को एम्पीयर मात्रा से गुणा करने पर जो अंक आता है वह वाट-संख्या होती है। १० एम्पीयर × १०० वोल्ट = १००० वाट (या एक किलोवाट)। वोल्टेज घटाने बढ़ाने पर एम्पीयर मात्रा इस प्रकार बढ़ती-घटती है कि वाट संख्या में कमी-बढ़ती नहीं होती।

यह ध्यान रखने की बात है कि ट्रान्सफॉर्मरों का उपयोग केवल ए० सी० बिजली के लिए हो सकता है न कि डी० सी० के लिए। बात यह है कि जैसा हम ए० सी० बिजली बनाते समय कह आये हैं कि बिजली चुम्बक के घुमाने या बाहर खींचने पर ही पैदा होती थी, उसी प्रकार यहाँ भी द्वैतीयिक कुंडली में आवेश बिजली केवल उसी क्षण उत्पन्न होती है जिस क्षण प्राथमिक कुंडली में बिजली घुसती है, अथवा जिस क्षण इसका प्रवाह रोका जाता है। घुसने के समय उत्पन्न बिजली की दिशा और होती है, और बंद होने के क्षण पर और। आवेश से बिजली बराबर पैदा होती रहे इसके लिए यह आवश्यक है कि प्राथमिक कुंडली में लगातार धारा घुसे और बन्द हो। ऐसा करने के लिए यंत्र में 'जोड़-तोड़' (मेक और ब्रेक) का प्रबन्ध किया जाता है जैसा कि बिजली की घण्टी में होता है।

बड़ी समाई वाले ट्रान्सफॉर्मर काम करते-करते गरम हो उठते हैं। अतः इनकी कुंडलियों को तेल में डुबा कर ठंढा रखना पड़ता है। आजकल इतने भीमकाय ट्रान्सफॉर्मर बन गए हैं कि यदि कहीं फैरेडे जन्म लेकर आ जाय तो उसे स्वयं आश्चर्य होगा कि उसका नन्हा सा ट्रान्सफॉर्मर आज वट का कितना बड़ा वृक्ष बन चुका है।

लंदन के बार्किंग पॉवर स्टेशन में ३ ट्रान्सफॉर्मर हैं जिनमें १२५०० से लेकर ३३००० वोल्ट धारा का प्रयोग होता है। इनकी सामर्थ्य १० करोड़ वोल्ट-एम्पीयर (१२५००० अश्वबल है)। प्रत्येक ट्रान्सफॉर्मर में ४३ मील लंबे ताँबे के तार हैं। कुंडली का भार १२० टन है, और इसे ठंढा रखने के लिए ६००० गैलन तेल चक्कर लगाता रहता है। तेल को पानी के प्रवाह में ठंढा रखते हैं।

——— ——

२—बिजली के विविध उपयोग

फैरेडे के प्रयोगों के आधार पर डायनेमो कैसे बनाया जा सका इसका उल्लेख हम पीछे कर आए हैं। प्रत्येक नगर में आजकल एक बड़ा बिजलीघर होता है जो समस्त नगर के लिए बिजली तैयार करता है। बहुत से कारखाने अपने काम के लिए स्वयं बिजली तैयार करते हैं—चीनी के, कपड़ों के और कुछ लकड़ी के कारखाने भी। कुछ रेलगाड़ियों में भी अपना डायनेमो होता है जिससे रेल के बल्बों को रोशनी मिलती है और पंखे चलाए जाते हैं। हर एक जहाज़ में भी अपना डायनेमो होता है जिससे बिजली तैयार करके बहुत से काम निकाले जाते हैं। यह हम कह चुके हैं कि इन डायनेमों को चलाने के लिए या तो भाप की टरबाइनों का उपयोग करते हैं, या डीजेल इंजिनों का जो तेल से काम करते हैं, और या पानी के प्रवाह से घूमने वाली टरबाइनों का। सबसे सस्ती बिजली हाइड्रोएलेक्ट्रिक स्कीम से प्राप्त होती है अर्थात् जहाँ डायनेमो पानी से चलाए जा सकते हैं। नदियों और नहरों में बहते हुए पानी अथवा प्रपातों में गिरते हुए पानी का उपयोग टरबाइन चलाने में किया जाता है।

मोटरों का निर्माण

चुम्बकीय क्षेत्र में आरमेचर को तेज़ी से घुमा कर बिजली तो तैयार हो गयी, पर इस बिजली से काम कैसे लिया जाय, यह दूसरी समस्या थी। आरमेचर की गति ने बिजली को जन्म दिया, —अब प्रश्न यह था कि क्या बिजली किसी दूसरे आरमेचर को गति

प्रदान कर सकती है? इस समस्या को सुलझाए बिना बिजली से पंखे कैसे चलाए जा सकते थे! ऐसे यंत्रों को जो बिजलीघर से आयी हुई बिजली को गति में परिवर्तित कर दे "मोटर" कहते हैं। बिजली के पंखे में लगे हुए मोटर की आप परीक्षा कर सकते हैं, इसी प्रकार के मोटर छापेखाने की मशीनों को भी चलाते हैं। स्विच दबाते ही बिजली इन मोटरों में घुसती है और मोटरों को ज़ोर से घुमाने लगती है। इन मोटरों के साथ दाँतेदार पहियों और पट्टियों का सम्बन्ध होता है जिससे बड़ी-बड़ी मशीनें चलने लगती हैं।

मोटर और डायनेमो दोनों के आरमेचर लगभग एक से ही होते हैं। डायनेमो को ही मोटर के काम में लगाया जा सकता है, इस बात का आविष्कार एक विचित्र घटना से सन् १८७३ में हुआ, वियना की प्रदर्शिनी में मशीन पर काम करने वाले किसी नौकर ने कौतूहल से बिजली के तारों को ऐसे डायनेमो से जोड़ दिया जो उस समय शान्त पड़ा हुआ था। वहाँ पर उपस्थित सब लोगों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि डायनेमो का आरमेचर बहुत ही तीव्र गति से नाचने लगा। इन तारों में दूर पर स्थिर किसी और डायनेमो से बिजली आ रही थी, और इस घटना से यह स्पष्ट हो गया कि एक डायनेमो से उत्पन्न बिजली दूसरे शान्त डायनेमो के आरमेचर को घुमा सकती है। बस इस प्रकार मोटर का आविष्कार सहज में हो गया।

अब तो छोटे से छोटे मोटरों से लेकर बड़े से बड़े मोटर तैयार किए गए हैं जिनसे अनेक काम लिए जाते हैं। किसी दाँत बनाने वाले की दूकान पर जाइए, आप देखेंगे कि बिजली से संचालित छोटे-छोटे मोटर स्विच दबाते ही किस प्रकार घूमने लगते हैं, और उनके साथ चलने वाले यंत्र किस प्रकार आप के दाँतो की सफाई करते हैं। लकड़ी के कारखानों में लगे हुए प्रबल मोटर बड़े-बड़े

लट्ठों को चीरने के काम में आते हैं। चलते हुए मोटरों के साथ तरह-तरह के यंत्र लगा कर हम इनसे सभी विचित्र काम निकाल सकते हैं। ८००० अश्वबल रखने वाले मोटर कारखानों में भीम-काय पहियों को चलाते हैं। इन मोटरों में भी डायनेमो के समान एक स्टेटर और एक रोटर होता है। रोटर घूमता है और स्टेटर स्थायी रहता है। स्टेटर में तारों का समूह होता है जिनमें होकर बिजली प्रवाहित होती है। बड़े-बड़े कारखानों के रोटर कभी-कभी तो १५०० मन भारी होते हैं।

बिजली से बने चुम्बक

हम इसका उल्लेख पहले ही कर चुके हैं कि ऑयस्टड ने किस प्रकार इस बात का आविष्कार किया कि यदि किसी तार में
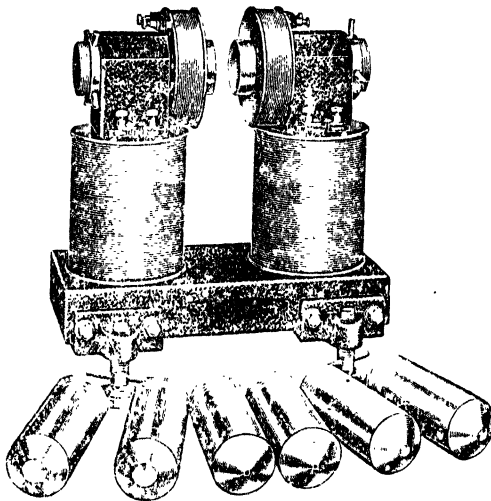
चित्र २० – विद्युत्-चुम्बक

बिजली की धारा प्रवाहित की जाय, तो वह तार थोड़ी देर के लिए

चुम्बक हो जाता है। इस खोज के आधार पर बड़े बड़े विद्युत् चुम्बक (एलेक्ट्रोमैगनेट) आज बनाए जाने लगे हैं (चित्र २०)। सन् १८२३ में विलियम स्टर्जन (William Sturgeon) नामक एक अंग्रेज़ी मिस्त्री ने पहली बार विद्युत्-चुम्बक बनाया। उसने मुलायम लोहे की छड़ के ऊपर बिजली वाला बहुत सा तार लपेटा, और फिर इस तार मे जब बिजली प्रवाहित हुई तो छड़ प्रबल चुम्बक बन गया। बिजली की धारा जब तक तारों में बहती रहती है तभी तक
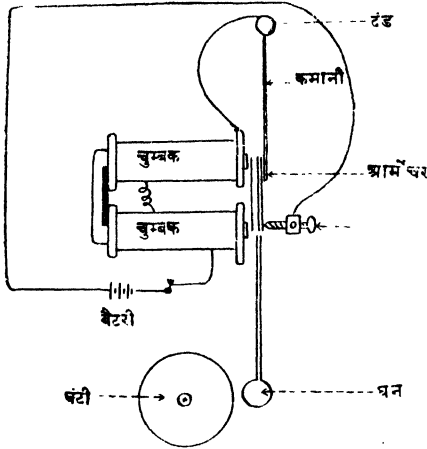
चित्र २१ – बिजली की घंटी कैसे बजती है ?
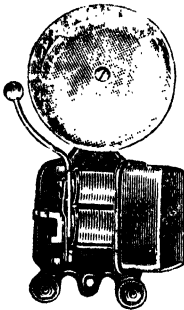
छड़ में चुम्बकत्व रहता है। स्विच बन्द करते ही चुम्बकत्व भी तत्क्षण दूर हो जाता है। इस प्रकार तैयार किए गए चुम्बकों की व्यापार और कलाकौशल में बहुत उपयोग होता है। बिजली की घण्टी भी इसी सिद्धांत के आधार पर टन-टन करती है (चित्र २१, २२)। घण्टी के तारों में जाकर बिजली लोहे की छड़ को चुम्बक बना देती है, और जैसे ही यह चुम्बक बन जाती है, यह दूसरी कमानी को अपनी ओर खींचती है। इसी खिंचाव में घण्टी टन-टन बोल जाती है। घण्टी में इस प्रकार का प्रबन्ध होता है कि एक ओर

चित्र २२—बिजली की घंटी

जैसे ही कमानी खिंची, बिजली की धारा का बहना बन्द हुआ। छड़ का चुम्बकत्व भी दूर हो गया और कमानी फिर अपनी जगह पहुँच गयी। वहाँ पहुँचते ही बिजली का चक्कर फिर पूरा हो गया, और तारों में फिर बिजली आयी और फिर घण्टी बजी। इस क्रम से बराबर घण्टी टनटनाती रहती है।

भारी भारी चीजों को उठाने वाले चुम्बक

भारी चीजों को उठाने वाले क्रेनों का उल्लेख हम अन्यत्र करेंगे हैं। इन क्रेनों में भारी चीजों को पकड़ने के लिए हुक और जंजीरें लगी होती हैं। पर यदि क्रेनों में चुम्बकों का प्रयोग किया जाय तो इनकी आवश्यकता न होगी। उठाने के काम आने वाले चुम्बक इस्पात के बने होते हैं, और बहुत भारी होते हैं। इनके भीतर ताँबे की बहुत सी पट्टियाँ होती हैं। प्रत्येक दो पट्टियों के बीच में एसबेस्टस और अभ्रक भरा होता है जिससे एक पट्टी दूसरी को छुए न। इन चुम्बकों के भीतर के द्रव्यों की नमी बिलकुल दूर कर लेते हैं और फिर इसमें ऐसे द्रव्य भर देते हैं जिनसे बाहर के वातावरण का इन पर कोई बुरा प्रभाव न पड़े। इन चुम्बकों को इतनी कुशलता से बनाया जाता है कि ये नदी के भीतर गिरी हुई चीजों को उठाने में भी समर्थ होते हैं। एक बार एक चुम्बक का उपयोग ७० फुट की गहराई पर नदी के भीतर किया गया। चुम्बक पर यद्यपि ऊपर से ३५ पौंड प्रति वर्ग इंच पानी का दबाव पड़ रहा था, पर इसे अपने काम करने में कोई भी कठिनाई नहीं हुई।

विद्युत्-चुम्बकों का सबसे अधिक शत्रु पानी की नमी है। यदि चुम्बक का अवरोधन या इन्सुलेशन इस नमी के कारण खराब हो गया, तो फिर चुम्बक काम नहीं करेगा। इसलिए इसके बनाने में इस प्रकार का ध्यान रक्खा जाता है कि ओस, कोहरा, पाला, वर्षा किसी का इसके भीतर तक प्रवेश न हो पावे। जिस भारी चीज

को उठाना होता है, उस तक चुम्बक को नीचे उतारते हैं। अब स्विच दबा कर चुम्बक में बिजली की धारा प्रवाहित करते हैं। धारा के प्रविष्ट होते ही चुम्बक में चुम्बकत्व आ जाता है और भारी चीज़ खिंच कर इससे चिपक जाती है। क्रेन की सहायता से अब इसे ऊपर यथा-स्थान तक खींच लेते हैं। फिर स्विच को ऊपर कर देते हैं। ऐसा करने पर बिजली की धारा बन्द हो जाती है और फलतः चुम्बक का चुम्बकत्व भी अलग हो जाता है, अब चुम्बक से चिपकी भारी चीज़ छूट पड़ती है।

ये चुम्बक छोटे-बड़े सभी प्रकार के बनाए जाते हैं। कभी-कभी इनका व्यास ६५ इंच तक का होता है। २२० वोल्ट की बिजली से चालू होने पर इनकी चीज़ उठाने की समाई ६१६० पौंड (१००-१२५ मन) तक की हो जाती है। अनेक कामों के लिए अनेक आकारों के ये चुम्बक तैयार किए गए हैं।

कपाल-फोड़

बिजली के चुम्बक की सहायता से पुराने धातुओं को तोड़ने-फोड़ने का भी काम लिया जाता है। इस काम के लिए दृढ़ लोहे का एक बड़ा भारी गोला लेते हैं जिसे "कपाल-फोड़" (स्कल क्रैकर) कहते हैं। चुम्बक की सहायता से कपाल-फोड़ ऊँचा उठाया जाता है, और फिर बिजली का स्विच बन्द करके यह एक दम ज़ोरों से उस चीज़ पर छोड़ दिया जाता है जिसे फोड़ना है। यह क्रिया बार-बार दोहरायी जाती है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि भोजन द्रव्यों में लोहे के तार या टुकड़े मिल जाते हैं। यदि ऐसे द्रव्य के पास प्रबल चुम्बक लाया जाय तो वह लोहे के कणों को अपनी ओर खींच लेगा और भोजन सामग्री स्वच्छ हो जायगी।

धातुओं को पृथक् करने में चुम्बकों के उपयोग

धातुओं के कारखानों में कच्ची धातुओं से साफ़ धातुयें तैयार की जाती हैं। सफाई करने में भी विद्युत्-चुम्बकों का उपयोग किया गया है। कच्ची धातु में कभी-कभी ऐसे अंश होते हैं जिन्हें चुम्बक अपनी ओर खींच सकता है। ऐसे अंशों को चुम्बकीय द्रव्य कहेंगे। अचुम्बकीय द्रव्य बिना खिंचे रह जायँगे। इस प्रकार चुम्बकीय और अचुम्बकीय अंशों को अलग-अलग करने में विद्युत्-चुम्बक बड़े सहायक सिद्ध हुये हैं। अनेक कारखानों में इन्हीं गुणों के कारण इनका उपयोग होता है।

बिजली की रोशनी

आजकल बिजली की रोशनी तो सर्वसाधारण को भी सुलभ है। यह कहना कठिन है कि सबसे हहले बिजली से कब रोशनी की गयी। सन् १८०२ में फैरेडे के आश्रयदाता सर हम्फ्री डेवी (Davy) ने सबसे पहला चापदीप या आर्कलैम्प बनाया। उसने यह देखा कि प्रबल बैटरी के ऋण और धन तार जब आपस में मिलाये जाते हैं तो उनके बीच में चिनगारी निकलती है, यदि बैटरी बहुत प्रबल है, तो एक बार छुआ कर दोनों तारों को अलग भी कर लिया जाय तो भी दोनों के सिरों के बीच में बराबर चिनगारियाँ दौड़ती रहेंगी। इन चिनगारियों के दौड़ने पर रोशनी भी पैदा होती है, और गरमी भी। डेवी के इस सीधे सादे प्रयोग ने आगे चल कर न केवल बिजली के बल्वों को जन्म दिया बल्कि बिजली की भट्टियों को भी।

डेवी ने बाद के प्रयोगों में यह भी देखा कि यदि तार के स्थान पर कोयले या कार्बन के पतले छड़ लिये जायँ और एक छड़ ऋण तार से संयुक्त किया जाय और दूसरा धन तार से, तो दोनों छड़ों के छुआने पर चिनगारी निकलेगी। ऐसी अवस्था में छड़ को पीछे थोड़ा सा खींच लेने पर ये चिनगारियाँ चाप या आर्क का रूप धारण कर लेंगी।

डेवी अपने प्रयोगों में यहीं नहीं रुका। अब की उसने दो कार्बन छड़ों के स्थान पर एक ही कार्बन छड़ ली और इसके दोनों सिरों को बिजली की बैटरी के ऋण और धन द्वारों से संयुक्त कर दिया। ज्यों-ज्यों बिजली की धारा इस कार्बन में होकर बहने लगी, कार्बन के ये छड़ गरम होने लगे। डेवी ने अपने अगले प्रयोग में कार्बन के पतले छड़ का उपयोग किया। छड़ इतना गरम हो गया कि यह लाल पड़ गया। फिर और गरम होने पर यह सफेद रोशनी देने लगा। (चित्र २३)।
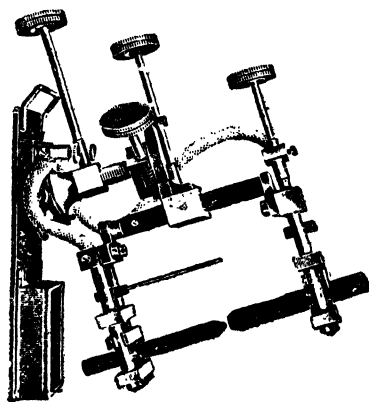
चित्र २३—चाप-दीप या आर्क लैम्प
इसका प्रकाश सिनेमा की मशीनों में आपने देखा होगा।

डेवी के इन प्रयोगों से यह तो स्पष्ट हो गया कि कार्बन गरम होकर रोशनी दे सकता है, पर हवा में जलता हुआ कार्बन वायु के ऑक्सिजन से संयुक्त होकर शीघ्र नष्ट हो जाता था। बाद को यह देखा गया कि कार्बन का यह छड़ यदि शून्य में (अर्थात् ऐसे स्थान में जहाँ से हवा निकाल ली गयी हो) बिजली की धारा से

गरम किया जाय तो बहुत समय तक चलता है। सिद्धान्त तो मालूम हो गया पर सफल लैम्प ७० वर्ष तक न बन सके।

इस निरीक्षण के आधार पर कई लोगों ने बिजली से जलने वाले कार्बन लैम्प बनाये। यह कहना कठिन है कि किसको विशेष श्रेय दिया जाय। सन् १८७८ और १८८० के बीच में थामस एडिसन (Thomas Edison) और जोसेफ स्वान (Joseph Swan) ने स्वतंत्र रूप से अच्छे लैम्प बनाने में सफलता प्राप्त की। इन्होंने कार्बन के बहुत पतले सूत्र में बिजली की धारा प्रवाहित की। सूत्र जितना ही पतला होगा, धारा से गरमी उतनी ही अधिक पैदा होगी। लैम्प में की सब हवा निकाल ली गयी थी, इसलिये कार्बन सूत्र बहुत समय तक ठहर सके।

एडिसन और स्वान दोनों के सम्मुख यह समस्या थी कि कार्बन के महीन तन्तु या सूत्र कैसे तैयार किये जायँ। एडिसन ने सन् १८८० में संसार भर में इसकी छानबीन करायी। अन्त में बाँस के रेशे से उसने कार्बन का सूत बनवाया। कार्बन का सूत शून्य में लगभग ८० घंटे तक ठहर सका। इसी समय एडिसन का ध्यान धातु के पतले तारों की ओर भी गया था। सन् १८७८ में उसने प्लैटिनम के तारों के उपयोग का पेटंट लिया। इस धातु के तार बहुत पतले खींचे जा सकते हैं, और यह काँच में जोड़ा भी जा सकता है। पर प्लैटिनम धातु का मूल्य बहुत अधिक है। बाद को यह पता चला कि टंगस्टन धातु के पतले तार लैम्पों के और भी अधिक काम के हैं, और आजकल बल्बों में इसी धातु का (अथवा ऐसी मिश्रधातुओं का जिनमें टंगस्टन भी हो) उपयोग किया जाता है।

बिजली की रोशनी का सबसे पहला सार्वजनिक प्रयोग १८५७ में ट्रिनिटी के लाइटहाउस (दीपस्तंभ) में हुआ था। सम्राट् एडवर्ड सप्तम की विवाह-रात्रि को भी १८६३ में बिजली की रोशनी की आयोजना की गयी थी, पर अब तक कार्बन सूत्र वाले बल्बों का आविष्कार नहीं हुआ था, इसलिये ये प्रयोग अधिक प्रचार न पा सके थे।

सन् १८८१ में इंगलैंड में पहली बार सड़कों पर बिजली से रोशनी की गयी। रिवर वे (River Way) के बिजलीघर से गोडालमिंग की सड़क पर तार बिछाये गये। ये तार सड़क की नालियों में होकर बिछे थे क्योंकि उन दिनों ज़मीन के भीतर से तार ले जाने का सरकारी नियम न था। सन् १८८२ में पार्लियामेंट ने इस संबंध में क़ानून बनाया। धीरे-धीरे जनता में बिजली का व्यवहार बढ़ने लगा। अब तक छोटी-छोटी कंपनियों के वैयक्तिक बिजलीघर थे (जैसा हमारे देश में आजकल भी है) और इन पर सरकार का विशेष अनुशासन न था। हर एक बिजलीघर मनमानी तरह की बिजली देता था, कोई डी० सी० देता और कोई ए० सी०। प्रयाग नगर में ही इस प्रकार की अव्यवस्था आज १९५३ में जैसी पायी जाती है, वैसी वहाँ भी थी। नगर के किसी भाग को प्रयाग में डी० सी० मिल रही है, और किसी भाग को ए० सी०।

सन्१९२७ में इंगलैंड में केन्द्रीय एलेक्ट्रिसिटी बोर्ड बन गया जिसने समस्त ग्रेट ब्रिटेन को बिजली देने का काम अपने नियन्त्रण में लिया, और तब से वहाँ बिजली की व्यवस्था में बड़े सुधार हो गये हैं। उन्होंने ऐसा अच्छा आयोजन किया है कि बमबारी से यदि किसी नगर का बिजलीघर हताहत भी हो जाय तो भी कुछ घंटों के भीतर ही समस्त नगर को बिजली मिलने लगेगी। प्रयाग के बिजलीघर में साधारण सी दुर्घटना होने पर भी कई दिन बिजली बन्द रहती है। आजकल वाटरवर्क्स का काम भी बिजली से चलता है, अतः बिजलीघर बन्द होते ही नलों में पानी का आना बन्द हो जाता है। ऐसी अवस्था में बिजलीघर की सुव्यवस्था पर ही जनता का इष्ट निर्भर है।

बिजली की रोशनी के व्यवसाय ने बहुत सी उपयोगी सामग्रियों को जन्म दिया। शॉर्ट सरकिट आदि के समय तारों पर बिजली का बोझ बहुत बढ़ जाता है। अगर बहुत अधिक एम्पीयर की धारा इन

तारों में बहने लगे, तो तार जलने लगेंगे और मकान में भी आग लग सकती है। इस प्रकार की दुर्घटना से बचाने के लिये फुस-तार (फ्यूज़ वायर) का निर्माण किया गया है। यह तार सीसा धातु के बने होते हैं, साथ में थोड़ी सी वंग (टिन) धातु भी मिली होती है। यह इतने मोटे होते हैं कि जैसे ही उचित मात्रा से अधिक बोझ की बिजली तारों में बहे ये पिघल कर टूट जाते हैं। इनके टूटते ही सर्किट (चक्कर) भंग हो जाता है, और बिजली का बहना रुक जाता है। इस प्रकार फ्यूज़ तार स्वयं अपने को भंग कराके और तारों को जलने से बचाये रखते हैं। दोष का निवारण करके दूसरे फ़्यूज़ तार फिर लगा दिये जाते हैं। बिजली की रोशनी के लिये ५ एम्पीयर वाले फ़्यूज़ तार और गरम करने के काम आने वाली बिजली के लिये १५ एम्पीयर तक की क्षमता वाले तार काम में लाये जाते हैं।

बिजली नापने के मीटर
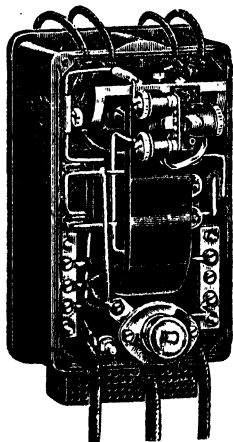
चित्र २४—बिजली नापने का मीटर। भीतर के कल-पुर्ज़े देखिए।

हम लोगों के घरों में बिजलीघर से बिजली आती है। ऐसा भी तो कोई उपाय होना चाहिये जिससे पता चलता रहे कि किसके यहाँ कितनी बिजली ख़र्च होती है और उसी हिसाब से उससे रुपया वसूल करना चाहिये। आपने देखा होगा कि मेन-लाइन से घर में बिजली एक मीटर में हो कर के घुसती है (चित्र २४-२५)। इस मीटर में यह अंकित होता रहता है कि कितने यूनिट बिजली ख़र्च हुई है। मीटर कई प्रकार के होते हैं, पर बहुधा 'मोटर-मीटर' का उपयोग किया जाता है। इसमें एक छोटा आवेश मोटर

होता है जिसके द्वारा एल्यूमिनियम का एक गोल टुकड़ा घूमता है। इस गोल टुकड़े का घुमाव कितना हुआ, यह इस बात पर निर्भर है कि मीटर में कितनी धारा बही। एल्यूमिनियम के गोल टुकड़े के साथ लगी सुइयाँ घुमाव का पता देती रहती हैं, और जैसे घड़ी में घंटा, मिनट, सैकंड की सुइयाँ होती हैं, उसी तरह इस मीटर में भी कई सुइयाँ होती हैं जो सैकड़ा, दहाई, इकाई और दशमलव के अंक बताती हैं। मीटर के बनाने में बड़ी सावधानी से काम लिया जाता है, और यह मीटर वर्षों तक बिना किसी मरम्मत आदि के भी काम करता रहता है। मीटर को क्षति से बचाने के लिये इसके भीतर भी एक फ्यूज़ लगा होता है। हर एक शाखा-सर्किट के तो एक बोर्ड में अलग-अलग फ्यूज़ होते ही हैं।
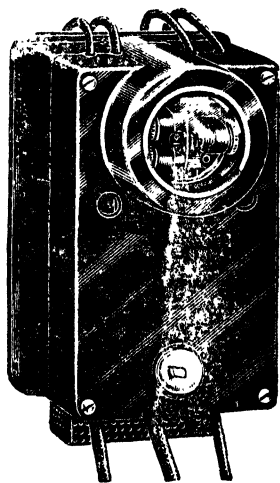
चित्र २५—बिजली नापने का घरों में लगा मीटर।

आप यह भी जानने के इच्छुक होंगे कि जब आप से कहा जाता है कि १० यूनिट बिजली खर्च हुई तो इसका अर्थ क्या है। एम्पीयर, वोल्ट और वाट की नापें तो आप को पहले बतायी जा चुकी है। वोल्ट को एम्पीयर से गुणा करने पर वाट आता है। १००० वाट मिलकर १ किलोवाट बनाते हैं। कुछ लोग बिजली के बल को अश्वबल (हॉर्स पावर) में नापते हैं। १ अश्वबल ७४६ वाट के बराबर होता है। १ किलोवाट की मोटर यदि एक घंटा तक चलती रहे तो यह १ किलोवाट-घंटा बिजली खर्च करेगी। इतनी बिजली को १ यूनिट कहते हैं।

आपके बल्बों पर यह लिखा हुआ है कि यह कितने वाट के हैं। मान लीजिए कि ५० वाट का यह बल्ब है। १ घंटे में यह ५० वाट-घंटा बिजली खर्च करेगा। २० घंटे में अतः यह १००० वाट घंटा (१ किलोवाट घंटा) बिजली लेगा। अर्थात् २० घंटे जलने पर यह १ इकाई बिजली खर्च करेगा। अपने पंखे में कितनी बिजली खर्च होती है, उसका भी आप इसी प्रकार हिसाब लगा सकते हैं।

तरह-तरह के लैम्प

आपने देखा होगा कि बाज़ार में कई तरह के बल्ब बिकते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जिनसे दूध सी सफेद रोशनी निकलती है, और कुछ में मामूली पीलापन लिये हुये। सफ़ेद रोशनी वाले बल्ब नील-हरे काँच के बनाये जाते हैं, जो लाल, नारंगी और पीली रोशनी को सोख लेते हैं। इन बल्बों में ५० प्रतिशत रोशनी इस कारण बरबाद जाती है। पर तब भी सफ़ेद 'दिन की सी' रोशनी मिलने के कारण ये बहुत काम के हैं। इस रोशनी में रंग-भ्रम होने की संभावना नहीं है।

भीमकाय लैम्प

रेल के इंजिन के सामने लगे हुये बल्ब को आपने देखा होगा। लेन्स की सहायता से यह कितनी दूर रोशनी फेंकता है। एयरोड्रोम में लगे हुये लैम्प की चारो ओर नाचती हुई रोशनी भी आपने संभवतः देखी हो। इसके आधार पर आकाश में चलता हुआ हवाई जहाज़ यह जान लेता है कि रात में उसे कहाँ उतरना है। स्वेज़ नहर पर नहर के दोनों तट को आलोकित करने के लिये विशेष रोशनी का प्रबन्ध है। यह रोशनी तेज़ भी है, पर आँखों को चकाचौंध भी नहीं करती। हमारे नगर की मोटर की रोशनी में यह दोष है। सायकिल पर चढ़ने वाले व्यक्ति सामने वाली मोटर के चकाचौंध से हमेशा पीड़ित रहते हैं। स्वेज़ नहर के दीपों का

केन्द्रीय भाग थोड़ी दूर तक काला कर दिया जाता है जिससे चकाचौंध नहीं होने पाता। ये दीपक कार्बन के छड़ों से रोशनी देते हैं। इनमें धनात्मक कार्बन समतल होता है और बराबर अपने आप चक्कर काटता रहता है। ऋणात्मक कार्बन २०° के कोण पर झुका होता है।

पारे की भाप के लैम्प (पारदवाष्प लैम्प)

डाक्टरों के यहाँ इस प्रकार के लैम्पों का विशेष उपयोग होता है। इन लैम्पों के प्रकाश में अल्ट्रावॉयलेट (पराकासनी) किरणें बहुत होती हैं जिनसे आलोकित होकर त्वचा के बहुत से रोग मिट जाते हैं। सर्वप्रथम कॉपेन-हेगन के चिकित्सक निल्स फिनसेन (Nils Finsen) ने सन् १८८५ में अल्ट्रावॉयलेट किरणों के उपयोगी गुणों की ओर विशेष ध्यान दिलाया था। सूर्य की
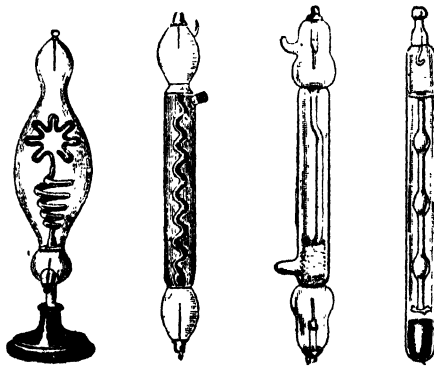
चित्र २६—विभिन्न प्रकार के गैस भरे बिजली के लैम्प

रोशनी में तो ये किरणें होती ही हैं, पर जिन देशों में सूर्य की रोशनी कठिनता से मिलती है, वहाँ इन पारदवाष्प लैम्पों का विशेष प्रचार है। धूप-स्नान करने के लिये इनका उपयोग होता है।

एक बार धूप में बिल्ली को धुपिआते देख कर फिनसेन का ध्यान धूप-स्नान की ओर गया था। बिल्ली पर जब-जब छाया आ जाती, वह स्वतः इस प्रकार घूम जाती कि उस पर फिर धूप पड़ने लगती। पारे के दीप से अल्ट्रावॉयलेट चिकित्सा को अब विशेष प्रोत्साहन मिला है। इन लैम्पों में पारा होता है, और ये लैम्प कार्ट्ज काँच के बने होते हैं (मामूली काँच अल्ट्रा-वॉयलेट रोशनी को रोक लेता है)। जैसे कार्बन की छड़ों के बीच में आर्क पैदा करके रोशनी की जा सकती है, उसी प्रकार का आर्क बिजली धारा प्रवाहित करके पारे के बीच में भी बनाया जा सकता है। यह पारे का आर्क बड़ी तेज़ रोशनी देता है। इस रोशनी का नेत्रों पर घातक प्रभाव पड़ता है, अतः आँखों में ख़ास काँच के चश्मे लगाने पड़ते हैं। सबसे पहली पारदवाष्प लैम्प पीटर कूपर हेविट (P. C. Hewitt) ने १९०२ में बनायी थी और तब से इसमें बहुत से सुधार किये जा चुके हैं।

नेओन गैस लैम्प

सन् १८९८ में सर विलियम रैमज़े ने एक निष्क्रिय गैस का हवा में पता लगाया। यह गैस नेओन कहलायी। लम्बी-लम्बी काँच की नलियों के बीच में की हवा निकाल ली जाय और फिर यदि इसमें नेओन गैस भरके विद्युत् संचार प्रवाहित किया जाय तो लाल रंग की सुन्दर रोशनी मिलेगी। यह रोशनी बड़ी मनोमोहक होती है, और सड़क पर चलते हुये यात्रियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। कलकत्ता के एस्प्लेनेड पर अनेक दूकानदार अपने विज्ञापन नेओन लैम्पों द्वारा तरह-तरह के अक्षर आलोकित करके करते हैं, इन लैम्पों के आलोकित होने पर गरमी भी बहुत कम पैदा होती है, अतः इनका उपयोग ऐसे स्थलों पर भी किया जा सकता है, जहाँ मामूली बल्बों की गरमी से आग लग जाने का डर हो।

नेओन लैम्पों के अतिरिक्त आर्गन लैम्प और सोडियम लैम्पों का भी विविध कामों में उपयोग किया गया है। यूरोप और अमरीका में आजकल सोडियम लैम्पों का विशेष प्रचार है। मामूली बल्बों में जहाँ १३.४ प्रतिशत बिजली प्रकाश के काम आती है (शेष बिजली गरमी देने में खर्च हो जाती है), वहाँ सोडियम लैम्पों में ६४ प्रतिशत बिजली प्रकाश में परिणत होती है। इस दृष्टि से सोडियम लैम्पों की विशेषता स्पष्ट ही है।

बिजली से धातुओं को गलाना

बिजली के चाप (आर्क) का हम उल्लेख कर चुके हैं। चाप पैदा करने के लिये कभी तो कार्बन के छड़ लिये जाते हैं, और कभी ताँबे या लोहे के। ये छड़ आगे की ओर नोकदार होते हैं।
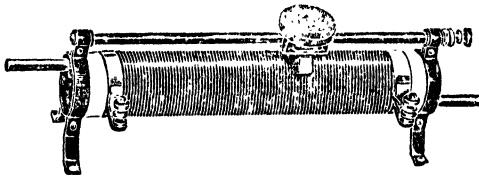
चित्र २७—रिओस्टेट—इसके द्वारा बिजली की धारा घटायी-बढ़ायी जा सकती है।

दोनों छड़ों को बिजली के ऋण और धन द्वारों से संयुक्त कर दिया जाता है, और फिर आर्क में लगी मशीन द्वारा दोनों छड़ों की नोकों को छुआते हैं, और शीघ्र अलग कर लेते हैं। इस प्रकार करने पर दोनों नोकों के बीच में बिजली का चाप बन जाता है। इस चाप में इतनी गरमी होती है, कि इस गरमी से धातुयें गलाकर जोड़ी जा सकती हैं। मरम्मत करने वाले कार-खानों में मामूली भट्ठियों के स्थान में बिजली के चापों का बहुत

प्रयोग होने लगा है। धातुएँ इस चाप में इतनी गरम हो उठती हैं कि वे मुलायम पड़ जाती हैं। उन्हें फिर गरम अवस्था में ही हथौड़ियों से ठोंक कर बढ़ाया जा सकता है। इस प्रकार गले हुये दो धातुपत्रों को एक साथ ठोंक-पीट कर जोड़ा जा सकता है। इस विधि से जुड़ाई करने का नाम मुलम्मा करना या 'वेल्डिंग' है। वेल्डिंग का काम पहले धौंकनी से भट्ठी को धौंक कर किया जाता था, और भट्ठी में कोयला जलाते थे। पर इस प्रकार भट्ठी का तापक्रम १२००°—१५००° के लगभग अधिक से अधिक जा पाता था। बाद को हाइड्रोजन या एसीटिलीन की ज्वालाओं का प्रयोग किया जाने लगा। इन गैसों में ऑक्सिजन मिलाकर ज्वाला तैयार की जाती थी। धौंकनी का प्रयोग करने पर इस विधि से २२००° तक का ऊँचा तापक्रम प्राप्त होता था। पर बिजली के चाप में इससे भी अधिक तापक्रम प्राप्त हो सकता है। लगभग ४०००° अंश सैंटीग्रेड तक की गरमी हम पहुँचा सकते हैं। ऐसी धातुयें जिन्हें पहले गलाना संभव न था, अब बिजली के चाप से गला दी जा सकती हैं।

वेल्डिंग के काम में वोल्टेज कम रखते हैं, पर बिजली की एम्पीयर मात्रा बहुत बढ़ा दी जाती है। ऐसा करने के लिये ट्रान्सफार्मर के साथ विशेष 'चोकिंग कॉयल' का प्रयोग करना पड़ता है। चाप ६० वोल्ट पर पैदा किया जाता है, पर एक बार चाप बन गया तो फिर वोल्टेज गिरा कर १८-२५ कर देते हैं। वोल्टेज कम करके एम्पीयर मात्रा बढ़ा देने पर बिजली का खर्च कम होता है। काम करने वाले मिस्त्री के हाथ में काम योग्य एक हथौड़ी होती है, और तार का एक ब्रुश। चाप के चकाचौंध से आँखों को बचाने के लिये उसे बुरक़ा या मुखटोप ओढ़ना पड़ता है। चाप की रोशनी में अल्ट्रावॉयलेट किरणें बहुत होती हैं, और यदि मुखटोप न लगाया जाय तो आँखों में घाव हो जायँगे। वैसे

तो चाप बनाने में दो छड़ों का उपयोग करना पड़ता है, पर यहाँ एक छड़ से ही काम चल जायगा। वह पदार्थ जिसकी वेल्डिंग करनी है, दूसरे छड़ का स्थान ले लेगा। बिजली का एक तार एक छड़ से संयुक्त किया जाता है, और दूसरा तार उस वस्तु से जिसकी वेल्डिंग करना है। छड़ को वस्तु के पास लाकर छुआते हैं, और फिर शीघ्र ही थोड़ा-सा खिसका लेते हैं। ऐसा करने पर वस्तु और छड़ के बीच में चाप बन जाता है। यथास्थान पर यथोचित गरम करके ठोंक-पीट कर वेल्डिंग कर ली जाती है।

बिजली की भट्ठियाँ

सर विलियम सीमेन्स (Sir william Siemens) ने सन् १८७६ में आर्क का प्रयोग इस्पात गलाने में किया। उन्होंने दो कार्बन छड़ों के बीच में एक घरिया (क्रूसिब्ल) रक्खी और फिर बिजली के भाप से उसे गरम किया। सीमेन्स के इस प्रयोग का कई वर्षों तक कोई सम्मान न हो सका, क्योंकि तब तक डायनेमो का प्रचार न हो पाया था और बिना डायनेमो के बहुत सी बिजली मिलती कहाँ से। पर जब से डायनेमो वाले बिजलीघरों का निर्माण होना संभव हुआ है, बिजली की भट्ठियों का भी प्रचार बढ़ा है। बिजली की भट्ठियाँ कई प्रकार की होती हैं। भट्ठियाँ इस प्रकार की अग्निजित ईंटों की बनायी जाती हैं जो २०००° तक का ऊँचा तापक्रम सह सकें। सिलिका (बालू) और केओलिन मिट्टी १७४०° का तापक्रम सह सकती है। बौक्साइट की ईंटें १८००° तक का, एल्यूमिना की २०००° तक का और मेगनीशिया और क्रोमाइट की ईंटें २२००° तक का। ज़रकोनिया की बनी

चित्र २८—कम्यूटेटर—इससे धारा को दिशा बतायी जा सकती है।

ईंटें २६००° तक का तापक्रम सह सकती हैं। इससे अधिक ऊँचे तापक्रम सह सकने वाली ईंटें अभी तक ज्ञात नहीं हैं।

अधिकतर बिजली की भट्ठियों में भाप का प्रयोग किया जाता है। भट्ठी के दो सिरों पर कार्बन के छड़ लगे होते हैं जिनके बीच में चाप पैदा किया जाता है। चाप के बीच में गलाये जाने वाले पदार्थ रख दिये जाते हैं। भट्ठियाँ और भी कई प्रकार की बनायी गयी हैं। बाधा-भट्ठियाँ (या रेसिसटेन्स फर्नेस) इनमें मुख्य हैं। बहुत से पदार्थों में बिजली की धारा जब प्रवाहित होती है, तो धारा के प्रवाह में कुछ बाधा पड़ने के कारण गरमी पैदा हो जाती है। बिजली के बल्बों के तार भी इसी बाधा के कारण गरम हो उठते हैं। जितनी अधिक बाधा होगी, गरमी भी उतनी ही अधिक पैदा होगी। इस सिद्धांत के आधार पर बहुत सी भट्ठियाँ बनायी गयी हैं।

बिजली की भट्ठियों ने अनेक नये व्यापारों को जन्म दिया है। चाप वाली वाटसन (Watson) और डेट्रोइट (Detroit) की भट्ठियों ने पीतल के व्यवसाय को प्रोत्साहन दिया। ये भट्ठियाँ घूमते हुये ढोलों के आकार की होती हैं, और कार्बन के छड़ों के बीच में चाप बनाया जाता है। बाधा वाली भट्ठी का सर्व प्रथम प्रयोग क्लीवलेंड, ओहियो, के इयूजेन (Eugene) और एलफ्रेड काउल्स (Alfred Cowles) ने १८८५ में किया। दो बरस बाद उन्होंने इसका पेटेंट कराया। तब से आज तक इन भट्ठियों में नित्य नये सुधार होते जा रहे हैं। रासायनिक खादें बनाने में, विस्फोटक पदार्थों के निर्माण में, कार्बोरंडम (बालू और कोयले से बना कठोर पदार्थ) जो हीरे के समान कठोर होता है, और रेतिआने के काम में आता है, के व्यापार में, और सबसे अधिक तो एल्यूमिनियम धातु के निकालने में इन भट्ठियों का बहुत हाथ है। एल्यूमिनियम धातु एल्यूमिना खनिज से (जो

देखने में खड़िया का सा होता है) निकाली जाती है। इसे क्रायोलाइट और फ्लोरस्पार खनिजों के साथ मिला कर गलाते हैं। फिर ६००° तक गरम करके बिजली की धारा से इस गले पदार्थ में से एल्यूमिनियम धातु अलग करते हैं। कार्बाइड और कैलशियम का निर्माण भी तो बिजली की भट्टियों द्वारा ही संभव हुआ है। इस कार्बाइड का उपयोग एसीटिलीन लैम्पों में किया जाता है। इसे चूने और कोयले को साथ-साथ गला कर बनाते हैं।

गृहस्थी के काम में बिजली का प्रयोग

हमारे देश में बिजली तेज़ पड़ती है, इसलिये इसका घरेलू उपयोग रोशनी और पंखे के काम में ही अधिक होता है। बिजली की घंटी जिसका हम पहले उल्लेख कर आये हैं, दफ़्तरों में या संपन्न व्यक्तियों के घरों में पायी जाती है। इधर कुछ दिनों से बिजली के 'हीटरों' का भी प्रयोग बढ़ रहा है। यदि आपको प्रातःकाल चाय तैयार करनी है, अथवा दाढ़ी बनाने के लिये थोड़ा सा पानी गरम करना है, तो पानी में इस हीटर को डाल दीजिये। हीटर में जो तार होते हैं, उनकी विद्युत बाधा अधिक होती है, और बिजली बहते समय वे गरम हो उठते हैं। उनकी गरमी से ही पानी गरम हो जाता है। बिजली अगर सस्ती मिले तो इसका प्रचार बहुत हो सकता है, क्योंकि इससे गरम करना बड़ा आसान है, न तो चूल्हे धौंकने का कष्ट और न धुआँ का दुःख। बटन दबाने भर को देर है, कि पानी गरम होने लगता है। हीटर जिस सिद्धांत पर बनाये जाते हैं, उसी सिद्धांत पर बिजली के स्टोव या कुकर भी बनते हैं जिनमें आप खाना पका सकते हैं। बिजली वाली पतीलियाँ भी मिलती हैं। बहुत से चूल्हे भी इस प्रकार के बनाये जाते हैं जिनमें बिजली के तारों के बीच-बीच में अग्निजित मिट्टी

चित्र २६–बिजली का हीटर

की पतली ईंटें रक्खी होती हैं। तार गरम होने पर ये ईंटे भी गरम हो उठती हैं। इस प्रकार के विधान से सरदी के दिनों मे कमरा गरम रक्खा जा सकता है। बिजली से काम करने वाले रेडियेटर भी आते हैं जो देखने में पालिश किये गये गोल दर्पण से लगते हैं। बिजली प्रवाहित होने पर ये रेडियेटर गरम हो उठते हैं, और पास में बैठे हुये लोगों को कमरे में गरमी पहुँचाते हैं। जैसे हम लोग अँगीठी के चारों ओर बैठ कर सर्दी में तापते हैं, उसी प्रकार संपन्न घरों के ड्राइंगरूम में रेडियेटरों (विकीर्णक) से तापने का सुख प्राप्त किया जाता है।

धोबी लोग मशीन में कोयला जलाकर कपड़े पर इस्त्री करते हैं। अब तो इस्त्री करने की मशीनें बिजली से काम करने लगी हैं। इन मशीनों के पेंदे बिजली के बहने पर गरम हो उठते हैं। इन मशीनों के भीतर तारों की कुंडलियाँ होती हैं जिनकी बाधा अधिक होती है। इस बाधा के कारण ये गरम हो उठती हैं।

चित्र ३०—बिजली का हीटर

चित्र ३१—बिजली से गरम होने वाला स्टोव

बिजली से काम करने वाले रेफ्रिजरेटर (शीतोत्पादक
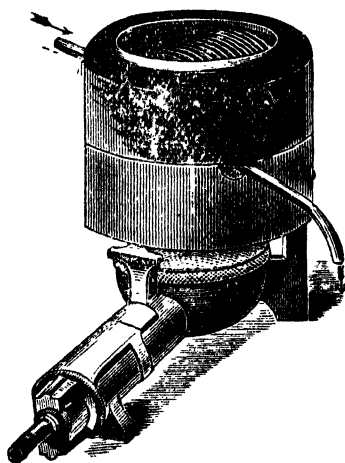
यंत्र) जिनमें बर्फ तैयार की जा सकती है, और भोजन सामग्री को ठंढे तापक्रम पर रक्खा जा सकता है, आजकल के संपन्न घरों की शोभा बढ़ा रहे हैं। छोटे-मोटे सभी काम अब तो बिजली से किये जा सकते हैं। सिर पर कंघा कर सकते हैं, बिजली की मशीन से दाढ़ी बनायी जा सकती है, इसकी मशीन से पैर दबाये जा सकते हैं—सारांश यह कि बिजली से हम अपनी सब सेवा करा सकते हैं। बिजली को नौकर रख लीजिये—आप के कमरे में यह झाड़ू भी दे देगी।

———

३—तार से समाचार

आमने-सामने बैठे हुये हम लोग बातचीत करके अपने भावों को एक दूसरे पर प्रकट करते हैं। भावों को प्रकट करने के लिये मनुष्य-समाज ने भाषा और लिपि का आविष्कार किया है। ये दोनों आविष्कार मनुष्य-समाज की विशेषता हैं। हम अपने लिखे गये पत्रों द्वारा दूर पर रहने वाले व्यक्तियों तक अपना समाचार पहुँचा सकते हैं। आजकल हमारे ये पत्र एक नगर से दूसरे नगर में रेल द्वारा पहुँचाये जाते हैं और फिर डाकिये पैदल, मोटर पर या सायकिल पर चढ़कर यह डाक घर-घर बाँटते हैं। रेल से पूर्व घोड़सवारों द्वारा पत्र एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजे जाते थे। पत्र ले जाने वाले हरकारे एक अड्डे से दूसरे अड्डे तक घोड़ों पर आते-जाते थे। बीच-बीच में अड्डों-अड्डों पर घोड़े बदले जाते थे। विदेशों से डाक आजकल हवाई जहाज़ द्वारा आती हैं। एयरमेल सर्विस पोस्ट आफिस सर्विस के समान ही भविष्य में सुगम हो जायगी, ऐसी आशा की जाती है।

स्वभावतः एक स्थान से दूसरे स्थान में पत्र भेजने में देर लगती है। अतः संकेतों द्वारा दूर-दूर के स्थानों में समाचार भेजने की प्रथा का जन्म हुआ। हम मेले के अवसर पर झंडों द्वारा सिपाहियों या स्वयंसेवकों को बातचीत करते हुये देख सकते हैं। ऊँचे से स्थान पर एक व्यक्ति झंडे से कुछ इशारे करता है, और इन इशारों को समझने वाले व्यक्ति दूर से ही उस व्यक्ति का अभिप्राय समझ लेते हैं। युद्ध के समय भी इसी प्रकार के संकेतों द्वारा दूर-दूर समाचार भेजे जाते थे। झंडों को देखने के

लिये दूरबीन (अथवा बायनोकुलर) का भी उपयोग किया जाता रहा है। यदि मार्ग में धूल छा रही हो तो झंडों की गति नहीं देखी जा सकती। ऐसी अवस्था में सीटी की आवाज़ से और बन्दूक की आवाज़ से भी संकेत भेजे जा सकते हैं। रात के समय तरह-तरह की रोशनी करके, और उस रोशनी को हिला-डुला कर समाचारों को भी भेजने की प्रथा रही है।

पारस देश के राजा साइरस ने संकेतों की ऐसी विधि निकाली थी कि पारस के द्वार पर एक दिन में ही समाचार पहुँचाये जा सकते थे। यदि घुड़सवारों को यह काम सौंपा जाता तो लगभग ३० दिन लगते। रोम के सिपाही अपनी चमकती ढालों को हिला-डुला कर ही दूर समाचार भेजने में समर्थ होते थे। अमरीका के आदिवासी पहाड़ियों की चोटियों पर आग जला कर धुआँ करते, और धुएँ के सामने कम्बल रख कर तरह-तरह के संकेत किया करते थे। धूम्र-संकेतों का उल्लेख बाइबिल में आता है। नेपोलियन के समय में फ्रांस में समाचार भेजने की एक विधि 'सेमाफोर'* (Semaphore) कहलाती थी जिसका व्यवहार स्वच्छ दिवसों में ही हो सकता था। रात को अथवा कुहरा, आँधी-धूल आदि के दिनों में इससे काम न चल सकता था। एक बार की बात है कि स्पेन में वेलिंगटन लड़ रहा था। सेमाफोर से लंडन में समाचार

---

* बिजली के तार के पूर्व सेमाफोर द्वारा समाचार भेजे जाते थे। रिचर्ड एजवर्थ (Richard Edgeworth) ने १७६७ में इसका आविष्कार किया था। सन् १७९४ से फ्रान्स में इसका प्रचार बढ़ा। रेलवे स्टेशनों से केबिनों में तारों को मशीन द्वारा खींच कर जैसे सिगनल गिराये या उठाये जाते हैं, उसी प्रकार तारों के खिंचाव से छः शटर खोले या बन्द किये जा सकते थे। इनके खुलने और बन्द होने के आधार पर ही संकेत समझ लिये जाते थे। आरंभ में तो पहाड़ी चोटियों पर मीनारों पर सेमाफोर स्थापित किये गये थे, पर बाद को सिगनल के खंभों पर हत्थे लगा कर काम चलाया गया। इनके द्वारा लंडन से डोवर तक १० मिनट में समाचार आ जाता था।

पहुँचा कि 'वेलिंगटन डिफीटेड' जिसका अर्थ लंडन वासियों ने यह समझा कि वेलिंगटन हार गया। लोगों में शोक छा गया। बात यह थी कि कुहरे के कारण अन्त के दो शब्द 'दि फ्रेञ्च' उस समय दिखाई न पड़े। ये शब्द कुछ समय बाद लंडन पहुँचे जब कि पूरे वाक्य का अभिप्राय यह निकला कि 'वेलिंगटन ने फ्रान्सीसियों को हरा दिया'। कुहरे ने वास्तविक भावों को बिल्कुल उलट ही दिया था।

तार के द्वारा बिजली बहुत दूर तक भेजी जा सकती है इसका सर्वप्रथम प्रदर्शन स्टेफेन ग्रे (Stephen Gray) ने १७२६ में किया था। पर उसे यह न सूझा कि इस आधार पर समाचार भी दूर स्थानों को शीघ्र भेजे जा सकते हैं। स्काट के मैगज़ीन में सन् १७५३ में एक पत्र गुप्त नाम से निकला था जिसे संभवतः स्काट देश के सर्जन चार्ल्स मॉरिसन (Morrison) ने लिखा था। इसमें सबसे पहली बार इस बात का निर्देश था कि बिजली के तारों द्वारा दूर-दूर समाचार भेजे जा सकते हैं। मॉरिसन के समय न तो डायनेमो थे और न बैटरी। रगड़ द्वारा बिजली तैयार की जाती थी। हर एक अक्षर के लिये अलग-अलग तार नियत किये गये। जिस अक्षर से अभिप्राय होता था, उससे संबंध रखने वाले तार में एक सिरे से बिजली भेजते और दूसरे सिरे पर कागज़ के छोटे-छोटे टुकड़े लगाकर उस बिजली का पता लगाते।

प्रारम्भिक टेलीग्राफ

हम पहले लिख चुके हैं कि सन् १८२० में ऑयर्स्टेड ने यह पता लगाया कि तार में बहती हुई बिजली की धारा कुतुबनुमा की सुई को किस प्रकार विचलित करती है। ऑयर्स्टेड के इस प्रयोग के आधार पर एम्पीयर ने उसी समय यह धारणा प्रस्तुत की कि इस प्रयोग का उपयोग समाचारों के दूर-दूर भेजने में किया

जा सकता है। बैरन शिलिंग (Schilling) ने तागे से चुम्बक की सुई लटकायी। इस सुई के साथ काग़ज़ का एक गोल टुकड़ा भी लगा था जो एक ओर सफ़ेद और एक ओर काला था। सुई के घूमने के साथ कभी तो इसका काला भाग सामने आता था और कभी सफ़ेद। तार में बिजली की धारा भेजने पर सुई घूमती थी। काले और सफ़ेद के अन्तर के आधार पर संकेत बना लिये गये थे।

अब तक बिजली का चक्कर पूरा करने के लिये दो तारों की आवश्यकता होती थी। बैटरी के एक सिरे से एक तार द्वारा बिजली जाती थी, और दूसरे तार द्वारा लौट आती थी। कार्ल वॉन स्टाइनहाइल (Carl von Steinheil) ने इसी समय यह बताया कि बिजली के दो तार ले जाने की आवश्यकता नहीं है। दूसरे तार का काम भूमि स्वयं कर सकती है। मान लीजिये कि एक बैटरी प्रेषक स्टेशन पर है और एक ग्राहक स्टेशन पर, प्रेषक स्टेशन के धन द्वार से एक तार ले जाकर ग्राहक स्टेशन के ऋण द्वार से जोड़ दीजिये। प्रेषक के ऋण द्वार का तार ज़मीन में दाब दीजिये और ग्राहक स्टेशन के धन द्वार से तार जोड़कर भी ज़मीन में दाब दीजिये। बस बिजली एक ओर तार में हो कर और दूसरी ओर ज़मीन में होकर अपना चक्कर पूरा कर लेगी।

टेलीग्राफ की सब से पहली सफल आयोजना चार्ल्स व्हीटस्टन (Charls Wheatstone) की रही। सन् १८३५ में इसका ध्यान बैरन शिलिंग के तार की ओर आकार्षित हुआ। इसी समय इसकी भेंट भारतीय सेना के एक अफ़सर विलियम कूक (William Cooke) से भी हुई जिसने सेना की नौकरी छोड़ दी थी, और जो स्वयं टेलीग्राफ-विद्या पर प्रयोग कर रहा था। व्हीटस्टन और कूक दोनों ने साझे में काम आरंभ किया। दोनों ने मिलकर तार

द्वारा समाचार भेजने का यंत्र पूरा किया। इनके यंत्र में ५ चुम्बकी सुइयाँ थीं। ये एक डायल में लगी हुई थीं। वर्णमाला के दस अक्षर इनके ऊपर की ओर डायल में थे, और दस नीचे की ओर। चाभियाँ दबाकर चाहें कोई भी सुई यथेच्छ ३०° विचलित की जा सकती थी। दो सुइयों की नोकें किस अक्षर की ओर समान संकेत कर रही हैं यह डायल से पता चल जाता था। मान लीजिये कि F अक्षर भेजना है। ऐसा करने के लिये दूसरी सुई I-M दिशा में विचलित करनी पड़ेगी और चौथी सुई K-P दिशा में। इसी प्रकार S अक्षर भेजने के लिये दूसरी सुई N-W दिशा में और चौथी सुई O-V दिशा में। A अक्षर के लिये पहली सुई H-E दिशा में और पाँचवीं L-G दिशा में। इस प्रकार २० अक्षरों के संकेत इस डायल पर भेजे जा सकते हैं।
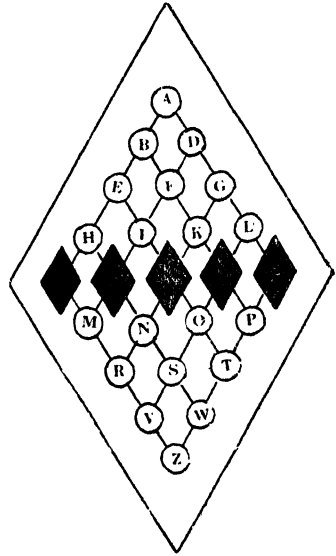
चित्र ३२—व्हीटस्टन का डायल

कूक और व्हीटस्टन को यूस्टन और कैमडन टाउन के बीच १½ मील दूरी के अन्दर तक तार द्वारा समाचार भेजने की आज्ञा मिल गयी। २० जूलाई सन् १८३७ को पहली बार तार से समाचार भेजा गया। यह वह अवसर था जब कि लंडन और बर्मिंघम के बीच में रेलवे लाइन खोली जा रही थी। यह विस्मय की बात है कि कूक और व्हीटस्टन के तार संबंधी प्रदर्शन से रेलवे अधिकारी बिलकुल प्रभावित न हुये मानों रेल और तार वे

संबंध में कोई महत्त्व ही न हो। यही नहीं, उन अधिकारियों ने दोनों अन्वेषकों से तार उखाड़ लेने को भी कहा।

ग्रेट वेस्टर्न रेलवे के अधिकारी अधिक उदार प्रतीत होते थे। उन्होंने कूक और व्हीटस्टन के विधान को सन् १८३८ में अपनाया और पौडिंगटन से लेकर वेस्टर्न ड्रेटन तक १३ मील के बीच में तार लगवाये। बाद को कुछ मील और तार बढ़ाये गये। पर फिर भी तार के काम के प्रति लोगों की अधिक रुचि न रही। इसी बीच एक ऐसी घटना हो गयी जिसने तार की कला को बहुत महत्त्व प्रदान कर दिया। सन् १८४४ में स्लफ के निकट सॉल्टहिल में एक स्त्री की हत्या की गयी। हत्याकारक संदिग्ध व्यक्ति लंडन स्टेशन पर ट्रेन पर चढ़ते देखा गया। फौरन ही स्लफ की पुलिस ने पैडिंगटन को तार से समाचार भेजा, "सॉल्टहिल में एक हत्या अभी हुई है। संदिग्ध हत्याकारी व्यक्ति ने लंडन के लिये पहले दर्जे की टिकट ख़रीदी है और वह उस ट्रेन से जो ७-४२ सायं को चलती है स्लफ़ स्टेशन पर सवार हुआ है। उसकी पोशाक क्वेकर (Quaker) की है, ऊपर से भूरे रंग का लबादा पहने है जो पैरों तक आता है। वह दूसरी पहले दर्जे की गाड़ी में पीछे की ओर बैठा है।"

कूक और व्हीटस्टन के डायल में (Q) अक्षर न था अतः उन्होंने समाचार में Kue अक्षर का प्रयोग किया। पैडिंगटन में आकर वह संदिग्ध व्यक्ति, जॉन टैनवेल, कैनन स्ट्रीट वाले अपने घर में पहुँच गया। लंडन पुलिस ने उसका पीछा किया और वह पकड़ा गया। बाद को उसकी फाँसी हुई। इस समय लोग फाँसी वाले मुक़दमों में बड़ी दिलचस्पी लेते थे। सभी को यह बात माननी पड़ी कि सार्वजनिक रक्षा की दृष्टि से तार का प्रचार नितान्त आवश्यक है। आज तो तार का व्यवहार प्रतिदिन की साधारण घटना है।

मोर्स के अनुसन्धान

तार प्रेषण के इतिहास में सेमुअल मोर्स (Samuel F. B. Morse) का नाम अमर हो गया है। अमरीका का यह कलाकार इस धुन में था कि न केवल समाचार दूर भेजा जा सके, वहाँ ग्राहक स्टेशन पर यह समाचार अपने आप अंकित भी हो जावे। सन् १८३७ में उसने एक ऐसा यन्त्र बनाया जिसमें एक क़लम लगी थी। इस क़लम से काग़ज़ के रिबन पर डॉट (विन्दु) और डैश (पाइयाँ) अंकित हो जाते थे। उसने डॉट और डैश के समूहों से सारी वर्णमाला निश्चित कर डाली। सन् १८३८ में मोर्स का यह कोड प्रदर्शित किया गया पर लोगों ने इसके प्रति रुचि न दिखायी। मोर्स के पास इतनी सम्पत्ति न थी कि वह इसका विशेष प्रचार कर सकता। सन् १८४२ में संयुक्त राज्य अमरीका के प्रतिनिधि मंडल ने वाशिगटन से लेकर बाल्टीमोर तक के बीच में तार-संस्थान स्थापित करने का समर्थन किया। बस तब से मोर्स के यंत्र का प्रचार बढ़ा और उसमें बहुत से आवश्यक सुधार भी किये गये।

मोर्स की लिपिमाला के आधार पर कूक और व्हीटस्टन के तार प्रेषण में भी उन्नति की गयी। पाँच सुइयों के स्थान में एक ही सुई से काम चलने लगा। सुई दायें को घूमे या बायें को यह बात धारा की दिशा पर निर्भर थी। सुई जब बायें को घमे तो इसका अभिप्राय मोर्स लिपि में 'डॉट' समझा जाय और जब दायें को तो डैश। कुशल तार बाबू इस सुधरे हुये यंत्र द्वारा प्रति मिनट २० शब्द दूर के स्टेशन को भेज सकता था।

रेल के विभाग में अब भी सुई वाला यंत्र काम कर रहा है। पर डाकखानों में "साउण्डर" या ध्वनि-यंत्र का उपयोग अधिक होने

लगा है। यह यंत्र सुई वाले यंत्र से सर्वथा भिन्न है। साउण्डर में एक विद्युत्-चुम्बक होता है जो लोहे के एक टुकड़े को आकर्षित करता है। यह टुकड़ा दो स्तंभों के बीच में होने के कारण खट-खट की ध्वनि करता है। तार बाबू जब समाचार भेजना चाहता है तो 'की' या चुटकी दबाता है। ऐसा करने से बिजली का चक्कर पूरा हो जाता है। चक्कर पूरा होते ही विद्युत्-चुम्बक लोहे के टुकड़े को अपनी ओर खींचता है। इस टुकड़े में ऐसा लीवर लगा होता
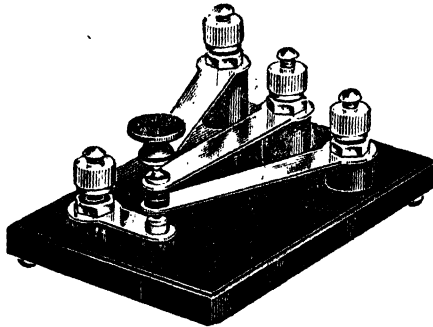
चित्र ३३—तार खटखटाने की चुटकियाँ (या कुंजियाँ)।

है कि टुकड़े के खिंचने के साथ ही यह खट की आवाज़ करता है। चक्कर भंग होने पर यह अपने स्थान पर फिर आ जाता है (बिजली की घंटी का-सा सिद्धांत यहाँ भी काम करता है)। प्रत्येक खट को डॉट समझा जाता है। डैश के पहले इस ध्वनि में थोड़ी सा रोध कर दिया जाता है। तार घर में जा कर आप डॉट और डैश की ध्वनियों का अन्तर समझ सकते हैं।

साउण्डर का ही सुधरा हुआ रूप लेखक-यंत्र या "इङ्कर" (inker) है। यह संवाद को जैसे का तैसा लिख देता है।

साउण्डर के लीवर के मुक्त सिरे पर एक छोटा पहिया लगा कर इसे बनाते हैं। एक पात्र में स्याही इस प्रकार रक्खी रहती है, कि अपनी सामान्य स्थिति में पहिया इस पात्र में डूबा रहता है। विद्युत् चुम्बक में जैसे ही बिजली की धारा आती है, लीवर उसी प्रकार घूमता है जैसे साउण्डर में। पर इंकर द्वारा यह खट की ध्वनि न करके यह स्याही लगे पहिये को काग़ज़ के रिबन (फीते) पर दबाता है। फीते में ऐसी घड़ी लगी होती है कि प्रत्येक अक्षर के बाद फीता थोड़ा सा खिसक जाता है (टाइपराइटर के रिबन के समान)। जब तक चक्कर पूरा रहता है, पहिया तब तक काग़ज़ पर लक़ीर बनाता रहता है। यह इस बात पर निर्भर है कि तार बाबू कितनी देर तक चुटकी (की) दबाये हुये है। तार बाबू इच्छानुसार डॉट या डैश के निशान काग़ज़ के रिबन पर अंकित कर सकता है।

मोर्स की लिपि

अमरीका में मोर्स की लिपि का अब तक प्रयोग होता है यद्यपि यूरोप में इस लिपि में थोड़े से परिवर्तन कर लिये गये हैं, मोर्स लिपि के तीन अंग हैं—डॉट (बिन्दु), डैश (पाई) और स्पेस (रिक्त स्थान)। यूरोप की लिपि को "कौण्टिनेण्टल" कहते हैं। मोर्सलिपि में डैश तीन डॉट के बराबर होता है। प्रत्येक अक्षर के बाद तीन डौटों की स्पेस दी जाती है। आजकल के समुद्री तार में भी मोर्सलिपि का प्रयोग होता है, और इसमें भी डॉट और डैश हैं। पर डॉट और डैश का समय एक ही है, अन्तर धारा के प्रवाह की दिशा का है। जब धारा एक दिशा में बहती है तो डॉट समझा जाता है, और जब इसकी उलटी दिशा में बहती है तो डैश समझा जाता है। इस पद्धति पर समाचार भेजने में समय कम लगता है।

	मोर्स	कॉण्टिनेण्टल		मोर्स	कॉण्टिनेण्टल
A	.–	.–	S	...	...
B	–...	–...	T	–	–
C	...	–.–.	U	..–	..–
D	–..	–..	V	...–	...–
E	.	.	W	.––	.––
F	.–.	..–.	X	.–..	–..–
G	––.	––.	Y	––––	–.––
H	....	....	Z	––––	––..
I	..	..	1	.––.	.––––
J	–.–.	.–––	2	..––..	..–––
K	–.–	–.–	3	...–.	...––
L	–	.–..	4	....–	....–
M	––	––	5	–––	.....
N	–.	–.	6	......	–....
O	. .	–––	7	––..	––...
P	.....	.––.	8	–....	–––..
Q	..–.	––.–	9	–..–.	––––.
R	–––	.–.	0	–	–––––

डूपले-टेलीग्राफी

प्रेषक स्टेशन से ग्राहक स्टेशन तक जो तार गया है, उसके द्वारा एक साथ दो तार नहीं भेजे जा सकते। एक तार बाबू प्रेषक स्टेशन से समाचार भेजेगा और दूसरा ग्राहक स्टेशन पर तार ग्रहण करेगा। एक मिनट में ३० शब्द तक भेजे जा सकते हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या यह संभव नहीं कि ग्राहक और प्रेषक स्टेशनों पर दो-दो तार बाबू बिठा दिये जायँ, और वे तार की एक

ही लाइन पर एक समय में दो तार भेज सकें, अथवा क्या एक लाइन पर ही एक समाचार पहले स्टेशन से दूसरे को, और उसी समय दूसरे स्टेशन से पहले को भेजा जा सके। सन् १८६३ में व्हीटस्टन ने एक ऐसा ब्रिज (सेतु) बनाया जिससे दो चक्करों
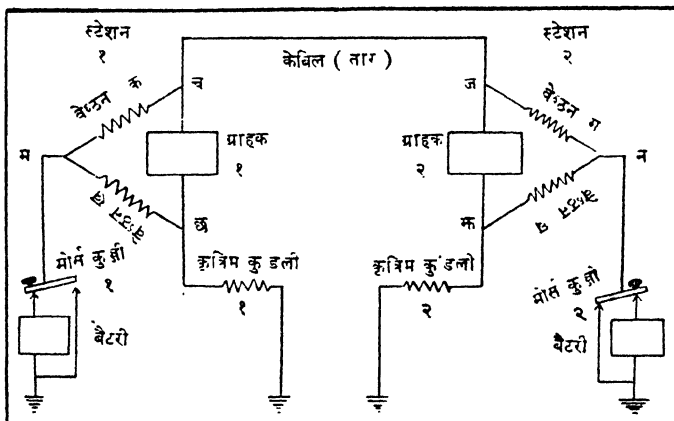
चित्र ३४—मोर्स समाचार भेजने का डुप्ले-विधान। एक तार पर हो दो विभिन्न दिशाओं में एक ही समय समाचार भेजे जा सकते हैं।

की बाधायें परस्पर एक स्थान पर जोड़ कर समतुलित की जा सकती थीं। इस सिद्धान्त के आधार पर दोनों ओर से एक ही लाइन पर समाचार भेजा जाना संभव हो गया (चित्र ३४)। दोनों स्टेशनों पर एक-एक प्रेषक मोर्स कुंजी और एक-एक ग्राहक यंत्र था। हर एक स्टेशन पर लाइन की बाधा को समतुलित (बैलेन्स) करने के लिये एक कृत्रिम चक्कर (सर्किट) भी था। कृत्रिम चक्कर की बाधा लाइन और ग्राहक यंत्र की बाधाओं के योग के बराबर थी। एक ही बाधा के चार वेष्ठन, क, ख, ग और घ, चक्कर में सम्मिलित कर लिये गये थे—दो एक स्टेशन पर

और दो दूसरे स्टेशन पर। मान लीजिये कि स्टेशन नं० १ से समाचार स्टेशन नं० २ को भेजना है। नं० १ कुंजी दबाते ही जो बिजली की धारा बही, वह प पर इस प्रकार दो बराबर भागों में विभक्त हो गयी कि च और छ का वोल्टन एक ही रहा। ऐसी अवस्था में ग्राहक यंत्र नं० १ में कोई धारा नहीं बहेगी,—इस यंत्र की सुई पर कोई असर न होगा। ग्राहक स्टेशन नं० २ पर तार में से आयी हुई धारा ज स्थान पर से दो भागों में विभक्त होगी। धारा का एक भाग तो ग्राहक नं० २, वेष्ठन घ और मोर्स कुंजी नं० २ में होता हुआ ज़मीन को पहुँच जायगा और दूसरा भाग वेष्ठन ग और मोर्स कुंजी नं० २ में होता हुआ ज़मीन में जायगा। परिणाम यह होगा कि ग्राहक नं० २ की सुई हिलने लगेगी, और इससे समाचार पहुँच जायगा।

अगर दोनों स्टेशनों से समाचार भेजे जा रहे हैं, तो तार में से आयी हुई विपरीत धारायें एक दूसरे का प्रभाव मिटा देंगी, पर अपनी-अपनी बैटरी की धारा से ग्राहक यंत्र फिर भी काम करते रहेंगे। प्रत्येक धारा क्रमशः म और न पर दो भागों में विभक्त होगी, और ज़मीन में पहुँचने के पूर्व (कृत्रिम चक्करों में बहती हुई) ग्राहक यंत्रों में होकर अवश्य जायगी। इस प्रकार दोनों ग्राहक यंत्र एक साथ काम कर सकते हैं। यह ठीक है कि इस विधान में चार तार बाबू दोनों स्टेशनों पर रखने पड़ेंगे।

टेलीग्राफ की कला के विकास में इतने से ही संतोष न हुआ। चार तार एक साथ आ-जा सकें, इसके लिये क्काड्रुप्ले विधान (Quadruplex System) अर्थात् चतुर्गुण विधान बनाया गया। एक स्टेशन पर चार प्रेषक यंत्र और दूसरे पर चार ग्राहक यंत्र लगाये गये। एक गोल चाक पर घूमता हुआ विभाजक ब्रश ग्राहक और प्रेषक दोनों स्टेशनों पर स्थापित किया गया। दोनों

ब्रश एक ही गति से घूमते हैं, अतः ग्राहक यंत्र १ में केवल प्रेषक यंत्र १ का समाचार आ पाता था, और इसी प्रकार ग्राहक यंत्र २ में केवल प्रेषक यंत्र २ का। गोल चाक में ४ से भी अधिक विभाग किये जा सकते हैं, और तब बहुत से तार एक साथ दोनों ओर से भेजे जा सकते हैं। हम यहाँ उन सब जटिल विस्तारों
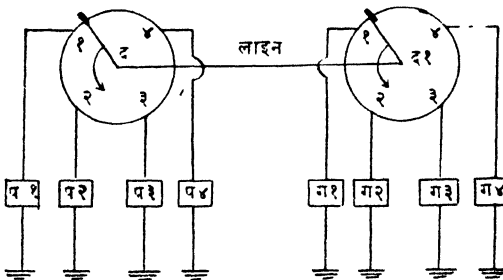
चित्र ३५—समुच्चय विधान—बायीं ओर ४ प्रेषक यंत्र और दाहिनी ओर ४ ग्राहक यंत्र।

का वर्णन नहीं कर सकते जिनसे यह संभव हुआ है कि एक लाइन पर ही दोनों ओर से अनेक तार एक साथ भेजे जा सकते हैं।

ह्वीटस्टन की योजना

सर चार्ल्स ह्वीटस्टन ने तार की कला में बड़ी उन्नति की। उन्होंने एक ऐसी पद्धति निकाली जिससे ग्राहक यंत्र में समाचार स्वयं अंकित होते जायँ। उनकी समस्त योजना के तीन अंग थे—प्रेषक यंत्र, ग्राहक यंत्र और छेदक यंत्र (परफ़ोरेटर)। छेदक यंत्र में तीन चुटकियाँ थीं जिनकी सहायता से काग़ज़ के फीते में तीन प्रकार के छेद होते थे। एक चुटकी से डॉट सूचक छेद बनते थे, एक से डैश सूचक छेद और एक से स्पेस सूचक छेद। जब बायीं चुटकी दबायी जाती, तो आमने-सामने दो छेद बनते जो

एक डॉट बताते। जब दाहिनी चुटकी दबती तो कर्ण दिशा में दो छेद बनते जिनसे डैश की सूचना मिलती। काग़ज़ का फीता टाइपराइटर के फीते के समान घड़ी के द्वारा थोड़ा-थोड़ा खिसकता रहता था। फीते पर छेद किस प्रकार पढ़े जा सकते थे यह यहाँ दिये गये चित्र से स्पष्ट है।

H I N D U S T A N I A C

चित्र ३६—फीते पर तार लिपि।

पहले छेदक द्वारा फीते में अक्षरों के सूचक छेद अंकित कर लिये जाते हैं। अब इसे प्रेषक यंत्र में लगाया जाता है। वहाँ यह घड़ी द्वारा थोड़ा-थोड़ा खिसकता है। यंत्र में फीते के नीचे दो चुम्बकी सुइयाँ होती हैं। फीते के छेदों द्वारा इससे विद्युत् संबंध स्थापित होता है। तार द्वारा बिजली की ये धारायें ग्राहक स्टेशन पर पहुँच जाती हैं। फीता तेज़ी से घुमाया जा सकता है और इसलिये इस विधि द्वारा बहुत सा समाचार शीघ्र ही ग्राहक स्टेशन पर भेजा जा सकता है। ग्राहक स्टेशन पर मोर्स-इंकर या लेखक यंत्र द्वारा डॉट और डैश काग़ज़ के फीते पर छप जाते हैं। तार बाबू इस लिपि को पढ़ लेता है।

अब तो छेदक मशीनें जिन्हें मोर्स-की-बोर्ड परफोरेटर कहते हैं बिलकुल टाइपराइटर के समान बनायी गयी हैं। १८७७ में बौडो (Baudot) ने मोर्स लिपिमाला के स्थान में ५-की (चुटकियों) वाला बोर्ड बनाया, जिसके अक्षर अंगुलियों से चुटकियाँ दबा कर छेदे जा सकते थे (ठीक उसी प्रकार जैसे टाइपराइटर में)। इस विधान से एक मिनट में १२० शब्द तक तार द्वारा भेजे जा सकते थे। आजकल एक-एक प्रेषक स्टेशन पर कई की-बोर्ड-परफ़ोरेटर

मशीनें होती हैं जिन पर कई तार बाबू खटाखट काम करते रहते हैं।

इन मशीनों द्वारा छेद किया हुआ फीता क्रीड-ऑटोमेटिक मोर्स ट्रान्समिटर में लगाया जाता है। यह ट्रान्समिटर २०० शब्द प्रति मिनट तक का समाचार भेज सकता है। दो चुम्बकी सुइयों द्वारा छेदों में बने हुए फीते पर के अक्षर बिजली की विभिन्न धाराओं के रूप में ग्राहक स्टेशन पर पहुँच जाते हैं। ग्राहक स्टेशन पर भी लगभग उसी प्रकार का 'क्रीड मोर्स रिसीविंग परफ़ोरेटर' होता है। इस यंत्र द्वारा फिर प्रेषक स्टेशन का सा छेद किया हुआ फीता तैयार हो जाता है। अब इस फीते को 'क्रीड मोर्स प्रिंटर' में लगा देते हैं। यह अद्भुत यंत्र है। यह छेदों को अँग्रेज़ी लिपि में रूपान्तरित कर देता है। टाइप का सा छपा समाचार छपा हुआ मशीन में से एक फीते पर निकल आता है। बहुत लंबे फीते पर अनेक समाचार एक साथ छपते आते हैं। इन समाचारों को काटकर तार के फार्म पर चिपका दिया जाता है, और अलग-अलग समाचार लोगों के पास पहुँचाये जाते हैं। फीतों पर १२० शब्द प्रति मिनट के वेग से प्रिंटर मशीन से समाचार छप सकते हैं।

टेप प्रिंटर अर्थात् फीते पर छापने वाली मशीनें ही नहीं, प्रत्युत 'पेज प्रिंटर' अर्थात् पूरा पृष्ठ छापने वाली मशीनें भी बनी हैं। एक ग्राहक स्टेशन पर जो छेद किये हुये फीते तैयार होते हैं; उनसे छपायी का काम तो लिया ही जा सकता है; इसके अतिरिक्त इन्हें प्रेषक यंत्रों में लगा कर दूसरे स्टेशनों को भी इन पर अंकित समाचार भेजा जा सकता है। समाचारपत्रों की संवाददातृ संस्थाओं के कार्यालय (जैसे राउटर या ऐसोशियेटेड प्रेस) इस काम के महत्त्व को विशेष समझते हैं। आज कल इन यंत्रों से न केवल संक्षिप्त समाचार, प्रत्युत लोगों के बड़े-बड़े भाषण दूर-दूर समाचारपत्रों में भेजे जाते हैं।

टेली-प्रिंटर

गत पंद्रह-बीस वर्ष पूर्व तक तार समाचार के जगत् में ५ प्रकार से तार भेजे जाते थे—(१) मोर्स पद्धति पर, (२) ह्यूग्स (Hughes) के प्रिंटिंग टेलीग्राफ पद्धति पर जिसमें पियानो बाजे का सा की-बोर्ड होता है, (३) बांडो प्रिंटिंग पद्धति पर जिसमें एक लाइन पर १८ तार एक साथ भेजे जा सकते हैं, (४) व्हीट-स्टन टेलीग्राफ जिसमें मोर्स लिपि में ३००-४०० शब्दों के डॉट-डैश संकेत प्रति मिनट भेजे जा सकते हैं, और (५) सीमेन्स यंत्र (Siemens apparatus) जो प्रति मिनट ८०-१२० शब्द भेज ही नहीं, बल्कि छाप कर तैयार भी कर सकता है।

अब तार के जगत् में एक नया युग आया है। आज कल की एक नयी मशीन—टेलीप्रिंटर—ने पुरानी सब विधियों को परास्त कर रक्खा है। टेलीप्रिंटर को टेलीग्राफ का टाइप-राइटर समझना चाहिये। इसमें वैसा ही की-बोर्ड होता है जिसमें अक्षर अंकित होते हैं। इससे तार गोंद लगे हुये फीते पर अथवा तार के फार्म पर छापा जा सकता है। इस यंत्र से तार बाबू बहुत शीघ्रता से काम कर सकते हैं। प्रति घंटे ८० तार भेजने और ग्रहण करने की क्षमता ६ महीने के अभ्यास से ही आ जाती है।

टेलीप्रिंटर में एक ही आकार की संकेत लिपि होती है। लिपि का प्रत्येक अक्षर ५ विद्युत्-आवेशों के संगठन से बनता है (जैसे बांडो पद्धति में)। इन आवेशों के क्रम में भिन्नता ला कर भिन्न-भिन्न अक्षर बनाये गये हैं। हर एक अक्षर छापने से पूर्व और फिर अक्षर छापने के बाद एक स्टार्ट-आवेश और एक स्टाप आवेश (स्टार्ट और स्टाप इम्पल्सेज़) देने पड़ते हैं। प्रति मिनट यह मशीन ५०-६० शब्द छाप सकती है। इसके प्रेषक-की-बोर्ड में अक्षरों का क्रम टाइपराइटर के अक्षरों के क्रम का सा ही

है। आपने तार के दफ़्तर में की-बोर्ड पर अँगुलियाँ चलायी नहीं कि सैकड़ों मील दूर पर ग्राहक स्टेशनों में रक्खी हुई टाइप राइटर के समान की मशीनें स्वयं झंकृत होने लगीं, और तत्क्षण ही वहाँ समाचार छपने लगे। स्टाप वाली की दबाते ही दोनों स्थानों के टेलीप्रिंटर अपने आप रुक जाते हैं।

टेलीप्रिंटर के दो अंग होते हैं, एक प्रेषक अंग जिसे की-बोर्ड-ट्रान्समिटर कहते हैं और दूसरा ग्राहक अंग जिसे की-बोर्ड-रिसीवर कहते हैं। एक ही मशीन इस प्रकार समाचार ग्रहण भी कर सकती है और भेज भी सकती है।

फोन से टेलीग्राम भेजना (फोनोग्राम)

जिन लोगों के घरों में टेलीफोन है, उन्हें तार भेजने के लिये तार घर नौकर नहीं दौड़ाना पड़ता। वे केवल फोन से तार घर में समाचार भेजते हैं, और तारघरों में ऐसा प्रबन्ध रहता है कि वहाँ ये तार स्वयं अंकित हो कर यथास्थान पहुँच जाया करते हैं।

संकुचित वायु के अध्याय में हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि लंडन आदि बड़े-बड़े नगरों में संकुचित वायु के नल लगे हुये हैं। लंडन में सड़कों के नीचे ७५ मील लंबा इनका जाल बिछा हुआ है। बीस मील प्रति घंटा के वेग से लिफाफे में बन्द तार भिन्न-भिन्न स्टेशनों को भेजे जा सकते हैं। यदि यह विधान न होता तो बड़े नगरों में दूर से स्टेशन पर आये हुये तारों को नगर भर में भेजवाना भी तो बहुत समय ले लेता। अतः नगर के अन्दर तार बाँटने का काम इन हवा के नलों से बड़ी सरलता से निकाला जा रहा है। हमारे देश में यह प्रथा अभी किसी नगर में नहीं है।

४—टेलीफोन पर बातचीत

आजकल बड़े-बड़े नगरों में टेलीफोन पर बातचीत करते हुये आपने देखा होगा। कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली आदि की हर एक बड़ी दूकान में टेलीफोन लगा है। छोटे नगरों में टेलीफोन का प्रचार नहीं है, पर रेलवे आफिसों में तो वहाँ भी टेलीफोन है। कोतवाली में, सरकारी दफ़्तरों में और लगभग सभी कारखानों में टेलीफोन के बिना आज काम ही नहीं चल सकता। आप प्रयाग में बैठे हुये कानपुर और लखनऊ से भी 'ट्रंककॉल' कर सकते हैं। थोड़े से ख़र्चे में ही दो-तीन मिनट बात कर लीजिये। टेलीफोन इस युग का बड़ा चमत्कार है। बाज़ार सस्ता है या मँहगा, हर घंटे आप टेलीफोन पर बातचीत करके पता लगा सकते हैं। आप को किसी दूकान पर किसी चीज़ का पता लगाना है—टेलीफोन पर पूछ लीजिये। पड़ोस में आग लगी है तो टेलीफोन से अधिकारियों को सूचना दे दीजिये। जिस ट्रेन से आपको आज कहीं जाना है, वह कितनी लेट आयेगी, टेलीफोन पर रेलवे के पूछ-ताछ विभाग से पता लगा लीजिये। अगर आप के घर टेलीफोन नहीं है, तो पास के पोस्टऑफिस चले जाइये। वहाँ कुछ आने पैसे खर्च करके टेलीफोन पर किसी से बातचीत करने का अवसर मिल जायगा। आपके घर कोई अकस्मात् बीमार पड़ गया है तो अपने डॉक्टर को आप टेलीफोन पर सूचना देकर फौरन बुला सकते हैं। टेलीफोन तो बड़े नगरों में प्रति दिन की वस्तु हो गयी है। व्यवसायी लोग तो खाट के पास टेलीफोन रख कर सोते हैं। घंटी बजी और उन्होंने टेलीफोन कान में लगाया।

ग्रैहेम बेल के प्रयोग

सन् १८७६ की बात है कि एलक्जेंडर ग्रैहेम बेल ने सबसे पहली बार तार पर बातचीत की। तब से आज तक कितना अन्तर हो गया है—यह तो टॉकी और रेडियो का युग है। कहा जाता है कि तार के अन्वेषण के कुछ वर्षों बाद ही तारबाबू इस बात से परिचित हो गये थे कि बिजली के तारों पर बातचीत की जा सकती है। तारघर में जब काम कम होता तो वे तार की चुटकियों पर पर ताल देकर गाना गुनगुनाया करते थे। दूर स्टेशन के तार-

चित्र ३७—बेल का टेलीफोन।
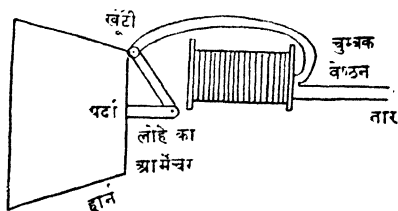
बाबू इन तालों से इतने परिचित हो गये थे कि वे समझ जाते थे कि कौन क्या गा रहा है। सन् १८५४ में चार्ल्स बौर सूल (Charles Bour Seul) ने यह प्रस्ताव किया कि तार की लाइन के जोड़ के साथ यदि कोई डायफ्राम या धातु का परदा लगा दिया जाय जो झंकृत हो कर धारा को बारी-बारी से जोड़े और तोड़े, तो उसी स्पंदन संख्या के तोड़-जोड़ की धारा तार में बहेगी जिस स्पंदन संख्या से ध्वनि के कारण डायफ्राम झंकृत हो रहा है। उसने यह भी बताया कि तार के दूसरे सिरे से संयुक्त विद्युत्-चुम्बक के पास रक्खे हुये उसी प्रकार के डायफ्राम में यह झंकृत धारा वैसी ही झंकार फिर पैदा करेगी। स्पष्ट है कि जैसी ध्वनि ने एक सिरे पर जिस झंकार की विद्युत् धारा को जन्म दिया था, यह विद्युत् धारा

दूसरे सिरे पर रक्खी डायफ्राम में वैसे ही ध्वनि फिर उत्पन्न कर देगी। बौर सूल की इस कल्पना का किसी ने बहुत दिनों तक व्यावहारिक उपयोग नहीं किया। सन् १८६१ में जर्मनी में फिलिप राइस (Philip Reis) ने एक यंत्र बनाया जिससे लगभग ऐसा ही काम सिद्ध होता था। इसका नाम उसने 'टेलीफोन' रक्खा। इस यंत्र से वह तार के ऊपर संगीत भेजने में सफल हुआ, पर तार के ऊपर बातचीत करने में उसे आशातीत सफलता नहीं मिली। फिर भी उसकी खोज महत्त्व की थी और सन् १८८५ में उसके गाँव में उसका एक स्मारक बनवा दिया गया। उसके यंत्र में जो कमी थी उसे ग्रैहेम बेल ने पूरी की।

बेल बोस्टन विश्वविद्यालय में प्राध्यापक था। उसका जन्म तो एडिनबरा में हुआ था पर वह बाद को कनाडा और वहाँ से संयुक्त राज्य अमरीका चला गया। यहाँ वह अपने सहकारी थॉमस वाटसन (Thomas A. Watson) के साथ संगीतमय टेलीग्राफ की खोज में व्यस्त था। उसका अभिप्राय यह था कि एक स्थान पर यदि पियानो बजाया जाय तो दूर दूसरे स्थान पर वह ज़ोर से सुनायी पड़े। उसने झंकृत चिमटियों (ट्यूनिंग फार्क्स) के योग से ऐसा करने का प्रयास किया।

२ जून १८७५ की बात है कि बेल और वाटसन अलग-अलग कमरे में काम कर रहे थे, और अपने नये यंत्र के परीक्षण में व्यस्त थे। वाटसन के यंत्र की कमानी ठीक से झंकृत नहीं होती थी, वह विद्युत्-चुम्बक से चिपट जाती थी। वाटसन कमानी को छुड़ाने के प्रयत्न में था, कि अकस्मात् बेल दौड़ा हुआ उसके कमरे में आया। उसने उत्तेजित होकर कहा—"तुमने फिर क्या किया। देखो बदलो मत, सब ऐसा ही बना रहने दो, मैं तो देखूँ"। उसने अपने कमरे में कमानी की वह ध्वनि सुनी थी, जो वाटसन

द्वारा छुड़ाते समय उत्पन्न हुई थी। चुम्बक के ध्रुव पर कमानी के स्पंदन से बिजली की धारा उत्पन्न हुई थी, और इस धारा ने इस ध्वनि को दूसरे कमरे तक पहुँचा दिया था। बेल को इस प्रयोग के आधार पर विश्वास हो गया था कि अवश्य ऐसा यंत्र बनाया जा सकता है जिससे मनुष्य के शब्द एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजे जा सकेंगे ।

बेल ध्वनि-विज्ञान का विशेषज्ञ था। उसे गूँगे-बहरों को शिक्षा देने में विशेष रुचि थी। अनेक प्रयोग करने के अनन्तर १० मार्च सन् १८७६ को उसे व्यवहार-योग्य टेलीफोन बनाने में सफलता मिली। इन प्रयोगों के करने में बेल को अनेक आर्थिक संकट उठाने पड़े थे। उसने वेस्टर्न यूनियन टेलीग्राफ कंपनी के हाथ सब पेटेंट २०००० पौंड में बेचने चाहे, पर उन्होंने खरीदना अस्वीकार किया। इस प्रकार उन्होंने वह सुलभ अवसर खो दिया जिसके लिए बाद को उन्हें कई लाख डॉलर खर्च करने पड़े। ग्रेटब्रिटेन में बेल का यंत्र सर विलियम थाम्पसन ने सितम्बर १८७६ को ब्रिटिश एसोसियेशन के अधिवेशन में पहली बार प्रदर्शित किया था।

बेल के प्रथम टेलीफोन में एक ही यंत्र से ग्राहक और प्रेषक दोनों का काम लिया गया था। प्रेषक के काम में यह काफी अच्छा था, यद्यपि थोड़ी दूरी तक के लिये ही यह काम कर पाता था। इस टेलीफोन का डायफ्राम बैल के पेट की अँतड़ी की खाल से बनाया गया था। खाल का यह परदा ध्वनि की तरंगों के साथ स्पन्दित होता था। ध्वनि परदे पर ठीक से पड़े, इसलिये परदा हॉर्न के एक सिरे पर लगाया गया था। इस हार्न के डायफ्राम का संबन्ध लोहे की छड़ द्वारा चुम्बक की एक कुंडली (या आर्मेचर) से था। इस कुंडली का संबंध तार से था। ऐसी ही कुंडली, डायफ्राम और हॉर्न ग्राहक स्थल पर भी था। बैटरी की सहायता से कुंडली में बिजली की धारा बहायी जाती थी।

मुँह हार्न पर रख कर बोलने से डायफ्राम ध्वनि-तरंगों से झंकृत होने लगता था। इस झंकार के साथ चुम्बक बना हुआ आर्मेचर भी कीली पर आगे-पीछे होने लगता था। इसके आगे-पीछे होने से तार में बिजली की स्पन्दन धारा बहने लगती थी। ये स्पन्दन धारायें तार द्वारा ग्राहक स्टेशन पर के विद्युत् चुम्बक को स्पन्दित करती थीं, और फलतः उस चुम्बक के संसर्ग में रक्खा हुआ डायफ्राम भी झंकृत होने लगता था।

एडिसन ने टेलीफोन में सुधार किये

बेल के टेलीफोन में ध्वनि बहुत धीमी सुनाई पड़ती थी, और इसलिये बहुत दूर तक के काम में इसका उपयोग नहीं हो सकता था। थॉमस एडिसन (Thomas A.Edison) ने डायफ्राम में विशेष सुधार किये। इसने बेल के डायफ्राम के पीछे कार्बन का एक मुलायम बटन लगा दिया। यह बटन सामने के स्पर्श भाग को पीछे दबाये रखता था। इस स्पर्श भाग के पृष्ठ पर कार्बन का पतला पत्र और रक्खा गया और फिर इसके पीछे पिछला स्पर्श
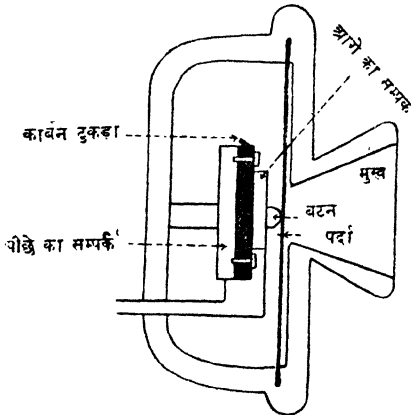
चित्र ३८—एडिसन का कार्बन-माइक्रोफोन ट्रान्समिटर।

भाग था। बैटरी से धारा एक स्पर्श भाग से बह कर जब दूसरे भाग में आती थी, और साथ ही जब डायफ्राम ध्वनि की लहरों से झंकृत होती थी, तो धारा का अवरोध घटता-बढ़ता था। कार्बन में

यह गुण है कि बिजली के प्रति इसका अवरोध इस पर पड़े दबाव के अनुसार घटता-बढ़ता है। डायफ्राम झंकृत होने से कार्बन पर का दबाव भी घटता-बढ़ता है। इस घटती-बढ़ती के कारण बहुत स्पष्ट स्पन्दन-धारायें तार में होकर बहने लगती हैं। एडिसन ने टेलीफोन के डायफ्राम में कार्बन का व्यवहार करके टेलीफोन में बड़ी उन्नति कर दी।

माइक्रोफोन

एडिसन के टेलीफोन में माइक्रोफोन के आविष्कार ने और सहायता दी। सन् १८७८ में डी० ई० ह्यूस (D. E. Hughes) ने माइक्रोफोन का आविष्कार किया था। ह्यूस ने अपने इस यंत्र में कठोर कार्बन के दो पत्रों का उपयोग किया। एक को उसने झंकृत तख्ते (साउंडिंग बोर्ड) पर रक्खा और दूसरा कार्बन पत्र पहले पत्र पर हल्के से रक्खा गया। दोनों कार्बन पत्रों के स्पर्श-बिन्दुओं से होकर बिजली की धारा बहायी गई। यह धारा टेलीफोन ग्राहक (रिसीवर) की चुम्बक-कुंडली में होकर भी बही। ध्वनि होने पर तख्ता झंकृत होने लगा, और उसके साथ-साथ दोनों कार्बन पत्रों का स्पर्श भी परिवर्त्तित हुआ, और फलतः बिजली की धारा के प्रति अवरोध भी परिवर्त्तित होने लगा। तख्ते के स्पन्दन के अनुपात में ही ये सब बातें हुईं। ह्यूस का डायफ्राम इतना सुकुमार था कि इस पर चलती हुई मक्खी भी अपनी गति का स्पष्ट परिचय ध्वनि भेद के कारण दे देती थी।

सन् १८७८ में ही ह्यूस के प्रयोगों के आधार पर रेवरेंड हनिंग्स (Rev. H. Hunnings) ने, जो यॉर्कशायर का पादरी था, माइक्रोफोन में एक विशेष सुधार किया। उसने धातु की दो पतली चद्दरों के बीच में कार्बन के कण रक्खे। धातु की एक चद्दर डायफ्राम का काम करती थी। ध्वनि होने पर इसके स्पन्दन के साथ

कार्बन के कणों पर दबाव घटता-बढ़ता था। जब दबाव बढ़ता था, तो कार्बन के कण सिमट कर बैठ जाते थे और बिजली की धारा अधिक सरलता से बहने लगती थी। पर जब दबाव कम होता, तो कण अलग बिखर जाते, और धारा का अवरोध बढ़ जाता। इस प्रकार प्रेषक यंत्र में बहने वाली बिजली में कभी वृद्धि और कभी कमी होती। यह अन्तर ही ग्राहक यंत्र में उत्पन्न ध्वनि में अन्तर उपस्थित कर देता।

यह स्पष्ट है कि जब दो व्यक्तियों को परस्पर बातचीत करनी है तो हर एक के पास ग्राहक और प्रेषक यंत्र होने चाहिये। हमारे टेलीफोन का वह भाग जिसे हम कान में लगाते हैं ग्राहक डायफ्राम होता है और जो भाग मुख के सामने होता है वह प्रेषक डायफ्राम होता है। दोनों डायफ्राम लगभग एक से ही हैं। दोनों डायफ्रामों का संबंध बिजली की बैटरियों से होता है।

टेलीफोन से संबंध कैसे स्थापित होता है ?

यह तो चमत्कार है ही कि हम दूर-दूर बैठे हुए एक दूसरे से बातचीत कर सकते हैं। पर एक ही टेलीफोन से हज़ारों घरों में रहने वाले अनेक व्यक्तियों से बात करने में हम कैसे समर्थ होते हैं, यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं है। जो व्यक्ति हमारे आमने-सामने नहीं हैं, उन्हें टेलीफोन पर पुकारें कैसे ? मान लीजिए कि आपके नगर में ९९९९ आदमियों के पास टेलीफोन है और हर एक का अलग-अलग नंबर निश्चित है। आप ४५३२ नंबर वाले व्यक्ति से टेलीफोन पर बात करना चाहते हैं। यह कैसे हो। गणना करके आप यह समझ सकते हैं कि यदि ८ व्यक्तियों को आपस में बातचीत करनी हो तो तार की २८ लाइनें होनी चाहिएँ। इस हिसाब से ९९९९ व्यक्तियों के लिए ५ करोड़ के लगभग लाइनें चाहिएँ। लाइनों का इतना विस्तार तो नगर में संभव नहीं है।

लाइनों की सुविधा के लिए इसीलिए शहर में एक 'एक्सचेंज' अर्थात् पारस्परिक विनिमय का एक दफ़र होता है। इसे हम विनिमय कार्य्यालय कहेंगे। नगर के केन्द्रीय भाग में यह स्थापित होता है। बहुत बड़े नगर में कई एक्सचेंज हो सकते हैं। सब टेलीफोनों के तार इस विनिमय कार्यालय से संयुक्त किए जाते हैं। विनिमय कार्यालय में एक बड़ा स्विच बोर्ड होता है। तारों के सिरे इस स्विच बोर्ड से संयुक्त रहते हैं। इस स्विच बोर्ड का नियंत्रण एक फोन-बीबी किया करती है (इस काम के लिए विलायत में और हमारे देश के कलकत्ता ऐसे नगरों में भी लड़कियाँ ही
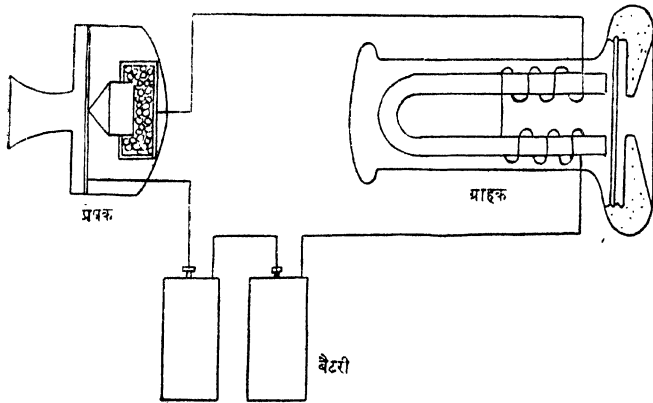
चित्र ३६—टेलीफोन सर्किट

रक्खी जाती हैं। 'तार बाबू' के समान हम इन्हें फोन-बीबी कहेंगे।) इस फोन-बीबी का यह काम होता है कि जिस नम्बर वाले व्यक्ति से आपका काम है, उसके फोन से आपके तार का सम्बन्ध करदे। विनिमय कार्यालय द्वारा यह सम्बन्ध बन जाने पर ही आप बातचीत कर सकते हैं।

टेलीफोन विनिमय का प्रयोग इंगलैंड में सन् १८७९ में पहली बार हुआ। यहाँ की टेलीफोन कंपनी लिमिटेड ने लंडन की ३६ कोलमेन स्ट्रीट में विनिमय कार्यालय खोला। दूसरे वर्ष आस्ट्रेलिया और मिश्रदेश में भी विनिमय पद्धति आरंभ की गयी। इसी बीच इंगलैंड के और नगरों में भी इस प्रकार के कार्यालय खुले। सन् १८८१ में सभी नागरिक कंपनियों को एक में मिला कर एक नेशनल टेलीफोन कंपनी बनी। छोटे शहरों को बड़े शहरों से परस्पर संयुक्त करने वाले तार को "ट्रंक-लाइन" कहते हैं। यदि आपको प्रयाग से लखनऊ या कानपुर बातचीत करनी है तो इस ट्रंक लाइन द्वारा आपको संबंध बनाना होगा। यदि ट्रंक लाइन खाली नहीं है, अर्थात् इस पर और कोई बातचीत कर रहा है तो आपको उतनी देर प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।
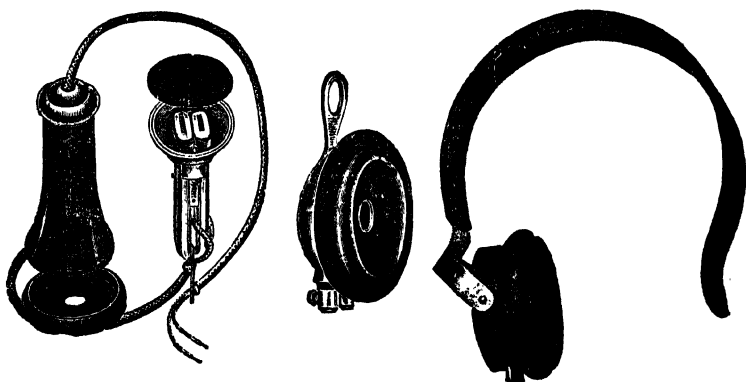
चित्र ४०—टेलीफोन के उपकरण

प्रारंभिक दिनों में विनिमय कार्यालय की फोन-बीबी को सूचना देने के लिए आपको अपने फोन की मुठिया घुमानी पड़ती थी। यह मुठिया घूम कर एक छोटे से डायनेमो को चला देती

थी। इसके कारण जो धारा पैदा होती थी, उससे आपके नम्बर वाला संकेत-कार्ड गिर पड़ता था। इस संकेत को देख कर फोन-बीबी जान लेती थी कि आपके फोन का नंबर क्या है। वह जैसे ही अपने फोन से आपके फोन को जोड़ती थी, यह संकेत-कार्ड फिर
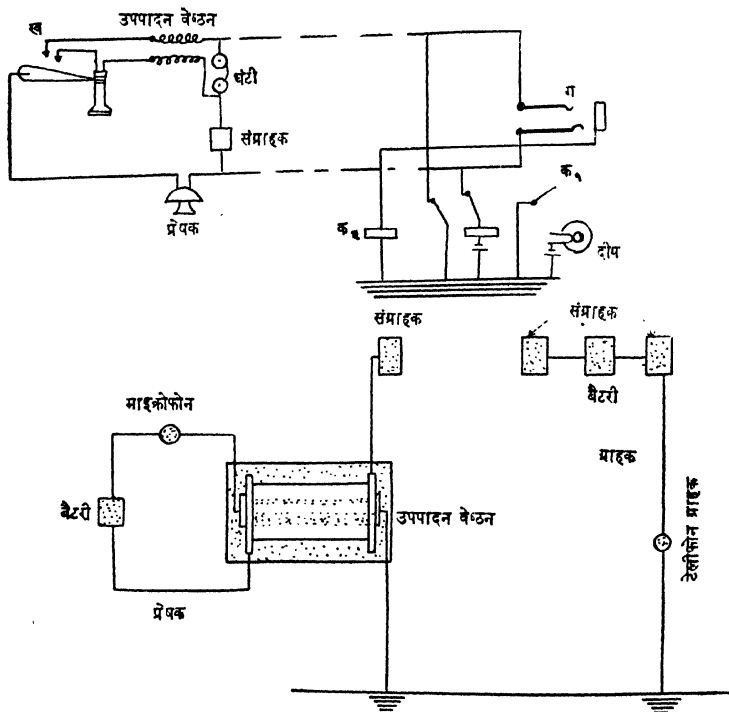
चित्र ४१ – टेलीफोन के लिए एक्सचेंज से संबंध

अपने स्थान पर चला जाता था। फोन-बीबी आपसे फोन पर पूछती कि आप किस नंबर से बातचीत करना चाहते हैं। नबर ज्ञात होने पर वह आपके फोन को उस नंबर वाले फोन से जोड़ देती थी।

आजकल के टेलीफोन एक्सचेंज में संकेत-कार्ड के स्थान में बिजली के बल्बों से काम लिया जाता है। आपने फोन यंत्र के ऊपर रक्खा हुआ रिसीवर (ग्राहक) जैसे ही उठाया, स्विच हुक ऊपर उठी, और बिजली की धारा बहने लगी जिससे साथ में लगी रिले काम करने लगी। धारा का चक्कर फौरन पूरा हो गया, और विनिमय कार्यालय में बल्ब जल उठा। कौन सा बल्ब जला, यह देख कर फोन-बीबी समझ गयी कि कौन फोन पर बातचीत करना चाहता है। फोन-बीबी आपसे पूछ कर फौरन ही उस फोन से तारों का संबंध कर देगी जिससे आप बातचीत करना चाहते हैं। यह संबंध होते ही, उस व्यक्ति के फोन की घंटी बजने लगेगी। जैसे ही वह व्यक्ति अपना रिसीवर उठा लेगा, घंटी अपने आप बन्द हो जायगी, और अब आप बातचीत कर सकते हैं।

टेलीफोन डायल

ऊपर दी गयी पद्धति से भी लोगों को सन्तोष न हुआ क्योंकि फोन-बीबी के ऊपर आपको अपने संबंधों के लिए निर्भर रहना पड़ता था। इसमें कुछ समय ख़र्च होता ही था। हम चाहते हैं कि विनिमय का संबंध भी अपने आप स्थापित हो जाय। हम अपने फोन का स्वयं दूसरों के फोनों से संबंध करना पसन्द करेंगे। इस उद्देश्य से स्वयं-चालक विनिमय पद्धति (औटोमेटिक एक्सचेंज) का आविष्कार किया गया। सन् १८८६ में कन्साज़ के एक व्यक्ति स्ट्रौगर (A. A. Strowger) ने इस संबंध में एक पेटेंट लिया। उसने जो पद्धति निकाली थी, लगभग उसी का आजकल भी व्यवहार हो रहा है।

आपने टेलीफोन करने का यंत्र देखा होगा। इसमें एक घड़ी का सा डायल होता है जिस पर १, २, ३, ४, ५, ६,...,९,० आदि नंबर लिखे होते हैं। मान लीजिए कि आपको ४५३२ वाले नंबर

से बातचीत करनी है। आप ४ नंबर के खाने में अँगुली डालिए, और डायल को एक सिरे तक खींच कर घुमाइए। सिरे तक पहुँच कर डायल छोड़ दीजिए। अब ५ नबर से इसी प्रकार कीजिए, फिर ३ से और फिर २ से। इस प्रकार प्रत्येक बार आप का एक्सचेंज कार्यालय से हजार, सैकड़ा, दहाई, इकाई के नंबरों का संबंध हो जायगा। इतना होने पर आपका फोन ४५३२ नंबर के फोन से अपने आप जुड़ जायगा।

डायल के अलग-अलग नंबर से घुमाने में अलग-अलग धक्कों की धारायें (करेंट इम्पल्सेज़) उत्पन्न होती हैं, जिनसे विनिमय

चित्र ४२ – कान में लगा कर सुनिए—माइक्रोफोन

कार्यालय में 'सिलेक्टर' अलग-अलग ऊँचाई तक उठ आते हैं। विनिमय कार्यालय में सिलेक्टरों के इन स्थानों के आधार पर ही फोनों से अलग-अलग सबंध हो जाते हैं।

सिलेक्टर

ये 'सिलेक्टर' टेलीफोन विभाग के हृदय हैं। इन पर ही विनिमय की सफलता निर्भर है। सिलेक्टर के दो विशेष अंग हैं। धातु की बनी हुई भुजायें जिन्हें 'वाइपर' कहते हैं। ये

भुजायें अर्धवृत्ताकार भाग पर ऊपर नीचे खिसकती हैं। इस भाग को 'बैंक' कहते हैं। बैंक में एक पर एक दस अर्धवृत्ताकार खाने होते हैं, और हर एक खाने में १० जोड़े स्पर्श विन्दुओं के होते हैं, जिनसे वाइपरों का संबंध हो सकता है।

स्वयंचालक विनिमय में तीन सिलेक्टरों का प्रयोग किया जाता है। एक सिलेक्टर हज़ार की संख्या से संबंध रखता है, दूसरा सैकड़े की संख्या से, और तीसरा दहाई और इकाई से। मान लीजिए कि हम ४५३२ वाले फोन से बात करना चाहते हैं। जब ४ नंबर डायल पर घुमाया तो बिजली की धारा के ४ धक्के लगे। ऐसा करने पर पहले सिलेक्टर का शैफ्ट ४ से खाने में ऊपर खिसक कर आ गया, इसके साथ-साथ वाइपर भी घूम कर एक विशेष स्थान पर आ गया। ४००० के किसी भी नंबर का यह स्थान है। दूसरी बार जब ५ का नंबर डायल पर घुमाया तो दूसरे सिलेक्टर में शैफ्ट और वाइपर इसी प्रकार बिजली के ५ धक्कों से यथास्थान पहुँच गए। इसी प्रकार ३ और २ नंबरों के क्रमशः घुमाने पर तीसरे सिलेक्टर में भी वाइपर यथास्थान आ गए।

जब बातचीत समाप्त हो जाती है, तो वाइपर फिर अपने मौलिक स्थान पर आ कर ठहर जाता है। टेलीफोन के संपूर्ण यंत्र में डायल और सिलेक्टर विशेष कौतूहल की चीज़ हैं। इनके कारण ही टेलीफोन की कला आज इस अवस्था तक उन्नत हो सकी है। ३ सिलेक्टरों की सहायता से ९९९९ टेलीफोनों में संबंध स्थापित हो सकता है। हर एक हज़ार की संख्या में १० आदमी एक साथ कॉल कर सकते हैं, इसी प्रकार सैकड़े की संख्या में भी १० व्यक्ति। यदि इतने से अधिक कभी संयोग से एक बार कॉल करना चाहें, तो कुछ को थोड़ी देर प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। पर ऐसा संयोग बहुत कम होता है।

ट्रंक कॉल का हिसाब

ट्रंक कॉल का महसूल दो बातों पर निर्भर है—आप कितनी दूर के व्यक्ति से बातचीत करना चाहते हैं, और कितनी देर तक बातचीत करना चाहते हैं। प्रयाग से कानपुर के व्यक्ति से बातचीत करने का दाम उतना ही नहीं लगेगा जितना कि प्रयाग से दिल्ली को। विनिमय कार्यालय में फोन-बीबी को इस बात का भी पूरा-पूरा हिसाब रखना पड़ता है। जैसे ही आपने बातचीत आरंभ की, विनिमय कार्यालय की घड़ी अपने आप चलने लगती है। हर तीन मिनट पर एक घंटी बजती हुई भी आपको सुनाई देगी, जिससे आपको भी पता रहे कि आप कितनी देर से बात कर रहे हैं। जैसे ही आपकी बातचीत पूरी हुई यह घड़ी अपने आप रुक जायगी। फोन-बीबी आपका पूरा हिसाब एक पुर्जे पर लिख कर आपको भेज देगी। लंडन में इन पुर्जों को भेजने के लिये संकुचित हवा से काम करने वाले (न्यूमेटिक) ट्यूब हैं, जिनसे ये पुर्जे शहर के भिन्न-भिन्न भागों में पहुँचा दिये जाते हैं, और फिर आदमी द्वारा उस भाग के घरों में भेजे जाते हैं।

५—बेतार का तार और आकाशवाणी

दिल्ली और लखनऊ के रेडियो स्टेशन से आये हुये समाचार और गाने बहुत कम लोग ऐसे होंगे जिन्होंने न सुने हों। रेडियो विभाग इस देश का एक प्रमुख विभाग हो गया है। इस युद्ध के आरंभ से कुछ पूर्व ही रेडियो का प्रचार भारतवर्ष में बढ़ा, और आज तो प्रत्येक सम्पन्न घर के ड्रायिंग रूम की यह शोभा बढ़ा रहा है। रेडियो पर न केवल हम अपने देश के समाचारों को सुनते हैं, हमें ब्रिटिश ब्रॉडकास्ट, सेगाँव रेडियो, जर्मनी और जापान के रेडियो स्टेशनों से चले समाचार भी मिलते रहते हैं। गतयुद्ध में हम चर्चिल, रूज़वेल्ट, हिटलर, मुसोलिनी और स्टैलिन के शब्द यहाँ बैठे अपने कानों से सुन लेते थे। अगर आप को विदेशी भाषा और उच्चारण सीखना हो तो रेडियो की सहायता लीजिये, और किसी भी देश के संगीत का आनन्द उठाना हो, तो इसकी शरण लीजिये। एकान्त के अवसर पर आप का इससे बढ़ कर और कोई सुहृद और संगी नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि एक ही रेडियो से जब चाहा इटली या फ्रान्स का गाना सुना, और यदि आप को वह पसन्द न आया तो दिल्ली की ग़जलें और ठुमरियाँ सुनी अथवा कलकत्ता से आये हुये सुरुचिपूर्ण संगीत से अपना मन बहलाया।

वह रेडियो जिससे आज हमारे देश के बहुत से गाँव वाले भी परिचित हैं, लगभग ७० वर्ष के परिश्रम के अनन्तर ऐसा बन सका है। आज से लगभग चालीस वर्ष पूर्व 'बेतार के तार' का नाम बहुत प्रसिद्ध था। प्रयाग के क़िले में बहुत ऊँचे लगे खम्भे उन दिनों

की याद दिलाते हैं, जब बिना तार के समाचार भेजने की कला का आरम्भ हुआ था। आज तो इतने ऊँचे खम्भे लगाना कोई आवश्यक नहीं समझता। मकान की छत पर दो बाँसों से बँधे तार काफ़ी हैं। चलते-फिरते हवाई जहाज़ों में ऐसे बाँस भी लगाना ज़रूरी नहीं है।

हर्ट्ज़ के प्रयोग

बेतार के तार का रहस्य समझने के लिये हमें मैक्सवेल (Maxwell) के सिद्धान्त और हर्ट्ज़ के प्रारम्भिक प्रयोगों की ओर जाना होगा। सन् १८६४ में जेम्स क्लार्क मैक्सवेल ने सर्व-व्यापक ईथर (आकाश) की कल्पना इस बात के लिये आवश्यक समझी जिसके आधार पर ६३०००,००० मील दूर सूरज से हमारे पास तक रोशनी आ सके। रोशनी तरंगों के रूप में चलती है, पर कोई ऐसा द्रव्य भी तो होना चाहिये जिसमें तरंगें उठें, जैसे पानी की लहरें। मैक्सवेल ने कल्पना की कि सूर्य और हमारे बीच में ईथर का एक विस्तृत तालाब है, और इसमें उठने वाली प्रकाश की तरगें विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों के समान हैं।

मैक्सवेल ने सिद्धान्त तो प्रस्तुत किया, पर उसके ईथर का समर्थन प्रयोगों से भी तो होना चाहिये। यह काम १८८६ में जर्मन देश के एक तरुण प्रोफेसर डा० हाइनरिक हर्ट्ज़ (Heinrich Hertz) ने किया।

हर्ट्ज़ के प्रयोग का संक्षिप्त रूप इस प्रकार था। उसने आवेश बेठन (इंडक्शन कॉयल) के दोनों सिरों को जस्ता के दो प्लेटों से संयुक्त किया। प्लेटों के इस युग्म को हम संग्राहक या कण्डेन्सर कहेंगे। आवेश बेठन द्वारा कण्डेन्सर को विद्युन्मय (चार्ज) किया गया। पर जब प्लेटों के बीच में चिनगारी दौड़ी तो कण्डेन्सर विद्युत्हीन (डिसचार्ज) हो गया। कण्डेन्सर को बार-बार

इस प्रकार विद्युन्मय और विद्युत्हीन किया जा सकता है। जैसे ही कण्डेन्सर विद्युत्हीन होता, वैसे ही इससे विद्युत् तरंगें आगे को ईथर में बढ़तीं। हर्ट्ज़ ने कण्डेन्सर के दोनों प्लेटों से दो तार
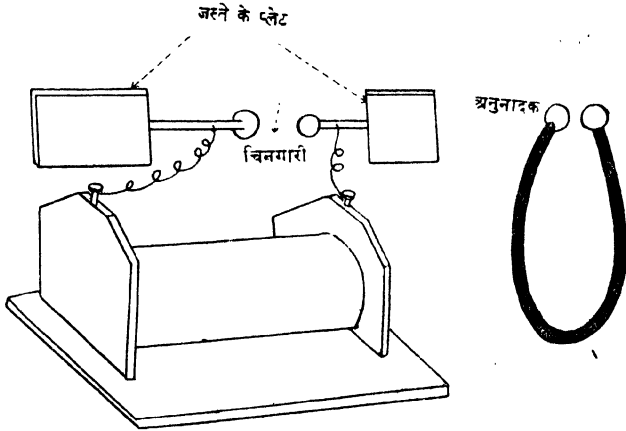
चित्र ४३—हर्ट्ज़ का एक्साइटर (प्रेरक) और रेज़ोनेटर (अनुनादक)

लगाये और उनके सिरों को मोड़ कर एक दूसरे से थोड़ी दूर पर रक्खा। इन दोनों सिरों के बीच जैसे ही चिनगारी छूटती, इनसे विद्युत् तरंग आगे को बढ़ती।

विद्युत् तरंग ईथर में आगे तो बढ़ी पर इसकी पहिचान कैसे की जाय। सन् १८८९ में प्रो० एडुअर्ड ब्रैनली (Edouard Branly) नामक एक फ्रान्सीसी वैज्ञानिक ने यह पता लगाया था कि काँच की नली में यदि लोहे का बुरादा लिया जाय तो यह ईथर की विद्युत् तरंगों के संसर्ग में आने पर अधिक घनीभूत हो जाता है। ब्रैनली के इस निरीक्षण के आधार पर एक 'कोहेरेर' (coherer) या अनुस्पंदक या ग्राहक बनाया गया। इसके साथ बैटरी

और बिजली की घंटी लगा कर रक्खी गयी। जिस आवर्त्तन से विद्युत् की तरंगें कोहेरेर पर पड़तीं, बिजली की घंटी उसी आवर्त्तन से बजती, यद्यपि कण्डेन्सर और बिजली की घंटी में तार द्वारा सम्बन्ध न था, पर तब भी आकाश में से आयी हुई तरंगों ने बिजली की घंटी बजा दी।

पहला रेडियो-टेलीफोन

बोस्टन के एक कॉलेज के प्रोफेसर ए० ई० डॉलबीयर (Dolbear) ने १८८३ में बिना तारों के समाचार भेजने का एक सफल प्रयास किया था। सन् १८७६ में उसने बेल-टेलीफोन से सर्वथा भिन्न एक टेलीफोन का आविष्कार किया। तीन वर्ष बाद उसका यह यंत्र लंदन और मेंचेस्टर और लंदन और ग्लासगो के बीच में काम करने लगा। मार्च २३, १८८२ की एक टेलीग्राफ इञ्जीनियरों की सभा में बिना तार के समाचार भेजने का इसने पहली बार सार्वजनिक प्रदर्शन किया। डॉलबीयर के यंत्र में माइक्रोफोन, बैटरी और उपपादन वेष्ठन (इंडक्शन कॉयल) थे। उपपादन वेष्ठन का एक सिरा भूमि से संबद्ध था, और दूसरा सिरा संग्राहक से। समाचार प्राप्त करने के स्थान पर एक टेलीफोन ग्राहक था, जिसका एक सिरा भूमि से संबद्ध था और दूसरा सिरा एक ऐसे संग्राहक से जो बैटरी से जुड़ा हुआ था।

मारकोनी का आविष्कार

हर्ट्ज़ की ईथर वाली इन विद्युत् लहरों पर बहुत से वैज्ञानिकों ने कार्य आरंभ किया। इन व्यक्तियों में लिवरपूल के सर ऑलिवर लॉज (Sir Oliver Lodge), और बोलोग्ना के प्रो० रीघी (Righi) प्रमुख थे। भारतवर्ष में सन् १८९३ से १८९५ तक आचार्य सर जगदीशचन्द्र वसु ने भी तार की कमानियों से एक अनुस्पन्दक (कोहेरेर) तैयार किया था जो

ब्रैनली के अनुस्पन्दक से अच्छा था। उन्होंने एक व्याख्यान में अपने अनुस्पन्दक और प्रेषक यंत्र द्वारा ७५ फुट दूर तक बिना तार के समाचार भेजने में सफलता प्राप्त की। प्रेषक और ग्राहक यन्त्र के बीच में तीन दीवारें भी थीं जिन्हें आरपार करके बिजली की तरंगें आगे बढ़ी थीं। यह दुर्भाग्य की बात है कि हर्ट्ज की मृत्यु १८९४ में तरुण अवस्था में ही हो गयी थी, और वह बेतार के तार के प्रचार का सुख न भोग सका।

जिस समय भारतवर्ष में डा० वसु अपने प्रयोग कर रहे थे, लगभग उसी समय इटली का एक तरुण युवक गुग्लीमो मारकोनी (Gugliemo Marconi) भी इसी प्रकार के प्रयोगों में लगा हुआ था। उसने अपनी प्रतिभा से यह जान लिया था कि हर्ट्ज
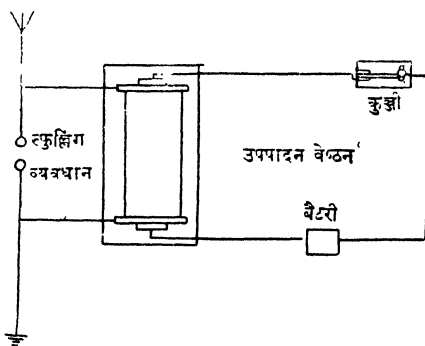
चित्र ४४—मारकोनी का पहला प्रेषक यंत्र (१८९५) जिसमें मोर्स कुंजी और स्फुल्लिंग व्यवधान (स्पार्क गैप) दिखाये गये हैं।

के प्रयोग आकाशमार्ग से समाचार भेजने में अवश्य सहायक होंगे। उसने यह देखा कि यदि चिनगारी (स्फुल्लिंग) वाला एक तार भूमि में छुआ दिया जाय और अनुस्पन्दक का भी एक तार भूमि में लगा दिया जाय तो ईथर की तरंगें बहुत दूर तक अपना

प्रभाव दिखा सकती हैं। मारकोनी ने चिनगारी वाले दो तारों में से एक को खड़ा ऊँचा टाँग दिया, और दूसरे को भूमि से छुआया। इसी प्रकार अनुस्पंदक के एक तार को भी इस ऊँचे टँगे तार से संयुक्त कर दिया। इन ऊँचे तारों को हम आकाशी तार (एण्टीना) कहेंगे। मारकोनी ने इंडकशन कॉयल के साथ टेलीग्राफ-की का भी सम्बन्ध कर दिया था और हर्ट्ज की बिजली की घंटी के स्थान में इसने टेलीग्राफ-साउण्डर (खटखटा यंत्र) रख दिया। इन आकाशी तारों का उपयोग करना मारकोनी की विशेषता थी। मारकोनी ने १८९६ में इंगलैंड में अपने इस बेतार के तार का पेटेंट लिया।

बेतार के तार के इतिहास में मारकोनी का नाम अमर रहेगा। मारकोनी का जन्म इटली देश के बोलोग्ना प्रान्त में २५ अप्रैल १८७४ को हुआ था। बोलोग्ना के विश्वविद्यालय में ही इसने शिक्षा प्राप्त की। मारकोनी का पिता इटली के धनाढ्य व्यक्तियों में से था। मारकोनी का गुरु प्रोफेसर रोज़ा (Rosa) स्वयं ईथर की तरंगों के अध्ययन में रुचि रखता था और इन दोनों ने परस्पर प्रयोग आरम्भ किये। मारकोनी व्यवहार-कुशल था, और उसने इन तरंगों का उपयोग समाचार भेजने में किया। जब वह दो मील तक समाचार भेजने में सफल हो सका तो सन् १८९६ में वह इंगलैंड चला आया। यहाँ उसे सर डबल्यू० एच० प्रीस (W. H. Preece) का सहयोग प्राप्त हो गया। प्रीस स्वयं बेतार के तार पर प्रयोग कर चुका था और एक बार जब १८९५ में ओबन और मलद्वीप के बीच में समुद्री तार भंग हो गया था, प्रीस ने बेतार के तार से समाचार भेजने का आयोजन किया भी था। मारकोनी ने अपने प्रयोगों के सम्बन्ध में जो सबसे पहला व्याख्यान इंगलैंड में दिया, उसका अध्यक्ष भी प्रीस था। सारांश यह कि तपस्या के प्रारम्भिक दिवसों में मारकोनी को प्रीस से

इंगलैंड में निस्पृह प्रोत्साहन मिला। धीरे-धीरे मारकोनी के काम की ओर और लोगों ने भी रुचि दिखायी। सप्तम एडवर्ड भी, जिस समय वे प्रिन्स आव् वेल्स थे, तरुण मारकोनी की ओर आकर्षित हुये। उन्होंने अपनी नौका मारकोनी को प्रयोगों के लिये दे दी थी। १२ दिसम्बर १९०१ मारकोनी के जीवन में चिरस्मरणीय दिवस माना जायगा। इस दिन एटलांटिक समुद्र के आरपार पहली बार बेतार के तार से समाचार भेजा गया। इस दिन तीन छोटे डॉटों (विन्दुओं) का संदेश जो मोर्सलिपि में 'S' होता है महासागर को पार करके आया। इतना आना ही समुचित सफलता का प्रमाण था। १८०० मील की दूरी को पार करने में १/१९ सेकेण्ड का समय लगा था। अभी बेतार की पद्धति में बहुत से सुधार करने थे। लगभग एक वर्ष के अनन्तर २२ दिसम्बर १९०२ को एटलांटिक के आरपार वास्तविक विस्तृत समाचार भेजे जाने में सफलता प्राप्त हो सकी। यह न समझना चाहिये कि इस बीच में मारकोनी को बाधाओं का सामना न करना पड़ा। न्यूफाउंडलैंड की एक केबिल कंपनी ने मारकोनी को उस द्वीप में काम न करने दिया—उसे वहाँ से अपने सारे यंत्र उठा लेने पड़े। बहुत से वैज्ञानिक लोग इस चमत्कार को संदेह की दृष्टि से देखते थे। कम से कम उन्हें यह विश्वास तो न होता था कि बेतार के तार का साधारण तार के समान कभी प्रचार भी हो सकेगा। पर आज हम जानते हैं कि शान्ति और युद्ध दोनों के समय बेतार का तार कितना सहायक है और इसने हज़ारों मील पृथक् देशों को एक दूसरे के कितना समीप कर दिया है।

सन् १९०२ में मारकोनी ने ईथर की लहरों की विद्यमानता जताने वाले 'चुम्बकी सांकेतक' (मैगनेटिक डिटेक्टर) का पेटंट लिया। तीन वर्ष बाद उन्होंने खड़े आकाशी तारों के स्थान में ऊँचाई पर आड़े लगे हुये तारों का उपयोग किया। सन् १९१० में मार-कोनी ब्यूनेस आइर्स से आयरलैंड तक (६ हज़ार मील के

आरपार) समाचार भेजने में सफल हो सका। सन् १९१४ में जब प्रथम यूरोपीय महायुद्ध आरम्भ हुआ तो इसने बेतार के तार का युद्ध के कामों में उपयोग करना चाहा। मारकोनी ने १९१९ में अपने देश इटली का शान्ति-सम्मेलन में प्रतिनिधित्व किया।

मारकोनी को धन और प्रतिष्ठा दोनों अपने आविष्कार के कारण मिली। सन् १९०९ में उसे भौतिक विज्ञान का नोबेल पारितोषिक मिला, और इसी वर्ष वह इटली की सीनेट का सदस्य बनाया गया। सन् १९२९ में वह अपने देश में 'मारचीज़' के सम्मान से प्रतिष्ठित किया गया। सन् १९३७ में मारकोनी का देहावासान हो गया। यह उसके जीवन का थोड़ा सा विवरण है, पर उसका काम तो इस समय संसार भर में व्यापक हो चुका है।

तरंग दैर्घ्य या वेव-लेन्थ क्या है ?

रेडियो यन्त्र वाले इस बात से परिचित हैं कि अलग-अलग रेडियो स्टेशनों से समाचार अलग-अलग वेव-लेंथ पर आता है। यह वेव-लेन्थ या तरंग-दैर्घ्य क्या है ? दो कीलों पर बन्धी हुई डोरी को हिला कर आप इसमें लहरें पैदा कर सकते हैं। यह लहर क स्थान से च तक चित्र ४५ में दिखाये गये रूप में चलती है। क से लहर उठी। उठती-उठती यह उच्चतम स्थान ख तक पहुँची; अब नीचे आई।
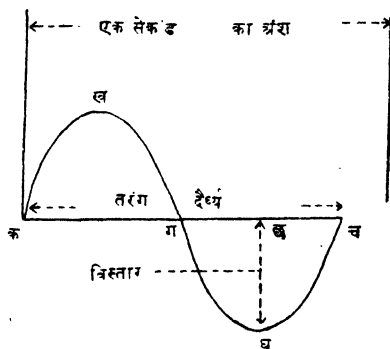
चित्र ४५—तरंग और तरंग-दैर्घ्य

अधिक से अधिक यह घ तक आई, और फिर ऊपर उठी और च तक पहुँच कर अपनी उसी स्थिति में हो गई जैसी क पर थी। क ख ग घ च इतनी दूरी एक तरंग या लहर (वेव) कहलाई। क से च तक की दूरी को हम तरंग दैर्घ्य (वेव-लेन्थ) कहते हैं। क से च तक पहुँचने में लहर ने एक चक्कर पूरा कर लिया। इस एक चक्कर को एक सायकिल कहेंगे।

बिजली की लहरें ईथर में उतने ही वेग से बहती हैं जितने से प्रकाश की लहरें। एक सेकेंड में १८६००० मील की गति से। एक सेकंड में लहर के कितने चक्कर हुये हैं, इस बात पर तरंग दैर्घ्य (लहर लम्बाई) निर्भर है। बिजली की लहरों का यह दैर्घ्य कुछ इंच से लेकर कई मील तक का हो सकता है। १८६००० मील लम्बी लहर १ सेकण्ड में एक चक्कर ही पूरा करेगी। अगर १००० मील लम्बी लहर होगी तो एक सेकण्ड में १८६ चक्कर लगायेगी।
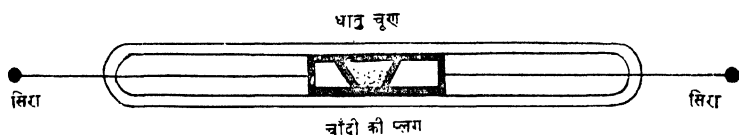
चित्र ४६—ब्रैनली का कोहेरेर डिटेक्टर (सांकेतक) (१८६०)

लहरों के वेग को बहुधा मीलों में नहीं, बल्कि मीटर में नापते हैं (१ मीटर १ गज़ से कुछ बड़ा होता है)। बिजली की लहरें प्रति सेकण्ड ३००,०००,००० मीटर दूर जाती है। यदि इस सख्या को प्रति सेकण्ड चक्करों की संख्या से भाग दे दिया जाय तो तरंग दैर्घ्य निकल आयगा। १००० चक्कर को मिलाने से एक किलो-सायकिल बनता है। १,०००,००० चक्कर इस प्रकार १००० किलोसायकिल हुये।

१०० मीटरों से कम लम्बी लहरों को बहुधा छोटी लहर (शार्ट

वेव्ज़) और इससे अधिक लम्बी लहरों को लम्बी लहर (लांग वेव्ज़) कहते हैं। साधारणतया २०० से ६०० मीटर तक की लहरों को मध्यम लहर (मीडियम वेव्ज़) भी कहा जाता है।

वाहक तरंग का उपयोग

टेलीफोन का रिसीवर जैसे ही हम उठा लेते हैं, वैसे ही सरकिट (चक्कर) पूरा हो जाता है। रिसीवर को यदि हम कान में लगालें, तो यद्यपि बिजली की धारा पूरे सरकिट में से बह रही है, हमें कोई शब्द तब तक नहीं सुनायी देता जब तक कि कोई टेलीफोन पर बोले नहीं। पर बिजली की बहती धारा शब्द के सुनने के लिये आवश्यक तो है ही। ठीक यही अवस्था बेतार के तार या रेडियो में भी है। विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के लगातार जल्दी जल्दी आने के कारण रिसीवर के आकाशी तार में बहुत ज़ोरों का स्पन्दन होता है। अगर टेलीफोन की डायफ्राम इन स्पन्दनों द्वारा झंकृत की भी जाय तो भी हमें शब्द नहीं
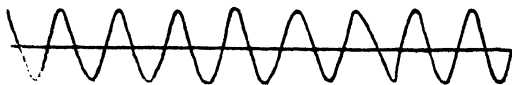
चित्र ४७—वाहक तरंग

सुनायी देंगे। हमारे कान कितने स्पन्दन प्रति सेकंड वाली ध्वनि सुन सकते हैं? ५० से १०,००० स्पन्दन प्रति सेकंड। इससे अधिक नहीं। इसीलिये ऊँचे स्पन्दनों की लहरों से झंकृत माइक्रोफोन में शब्द नहीं सुनायी पड़ते।

अतः यह आवश्यक है कि इन स्पन्दनों को किसी प्रकार कम करके कान द्वारा श्रवणीय स्पन्दन संख्या तक लाया जाय। यह काम इस प्रकार किया जाता है। प्रेषक आकाशी तार से निकली ऊँची स्पन्दन की एक रस तरंग को वाहक तरंग बनाया जाता है जैसे बैटरी की धारा को टेलीफोन में। स्पन्दन संख्या बहुत होने के कारण ग्राहक आकाशी तार से लगे टेलीफोन में कोई शब्द न सुनायी पड़ेगा, पर प्रेषक स्थल पर जब कोई माइक्रोफोन पर बोलेगा तो उसमें सर्किट की बाधा बढ़ जायगी। माइक्रोफोन से
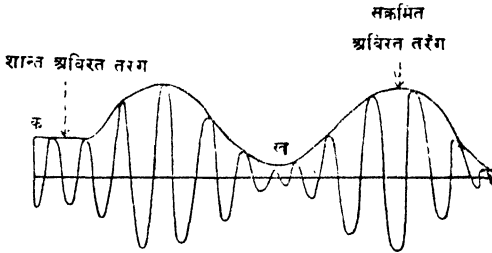
चित्र ४८—संक्रमित वाहक तरंग

निकली मन्द बिजली की धारा को एम्प्लीफायर यंत्र से और प्रबल कर लेते हैं। यह धारा वाहक तरंगों के साथ हिलमिल कर कुछ परिवर्त्तन ला देती है। यह मिश्रित परिवर्त्तित धारा ग्राहक आकाशी तार द्वारा फिर माइक्रोफोन पर पहुँचते-पहुँचते अपने मौलिक रूप में बदल जाती है और जैसे शब्द प्रेषक-स्टेशन पर बोले गये थे, वैसे फिर ग्राहक स्टेशन पर सुनायी पड़ने लगते हैं।

शोधक क्रिस्टल

यह आरम्भ में ही कहा जा चुका है कि इंडक्शन कॉयल द्वारा आकाश में जो तरंगे उत्पन्न होती हैं वे आवर्त्त प्रवृत्ति की हैं।

चित्र ४६—क्रिस्टल रिसीवर का सिद्धान्त।
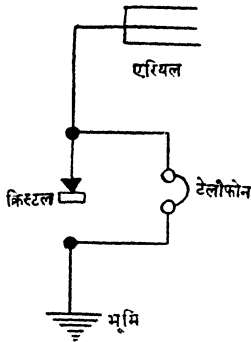
अर्थात् एक क्षण एक दिशा में बहती हैं, तो दूसरे क्षण ठीक उलटी दिशा में बहने लगती हैं। यदि इन आवर्त्त (उलटी-सीधी) तरंगों का प्रयोग किया जाय, तो हम इनसे कोई लाभ नहीं उठा सकते। क्योंकि एक दिशा का प्रभाव दूसरी दिशा के प्रभाव से मिट जायगा। आवर्त्त दिशा को एक दिशा में बदलने का कोई उपाय होना चाहिये। इस काम को तरंगों का शोधन करना (रेक्टिफाई) कहते हैं। यह काम विशेष रवों द्वारा निकाला जाता है जिन्हें शोधक रवे (रेक्टिफाइंग क्रिस्टल्स) कहते हैं। ये रवे कार्बोरंडम या लेड सलफाइड के होते हैं। ये रवे पतले तार के संपर्क में रक्खे जाते हैं। इस तार को "बिल्ली की मूँछ" (कैट्स ह्विस्कर) कहते हैं। कभी-कभी तार का उपयोग न करके दो रवों का उपयोग किया जाता है। यदि ये रवे ऐसी सर्किट के संपर्क में रक्खे जायं जिनमें आवर्त्त धारा बह रही हो, तो धारा एक दिशा में बहने लगेगी। ये रवे किसी एक तरफ बहने वाली धारा को खा जाते हैं, और फिर
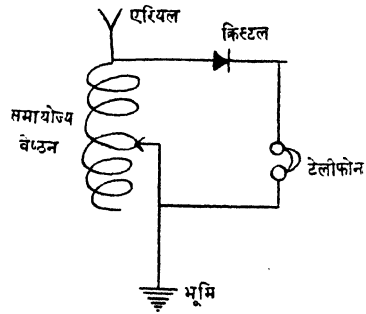
चित्र ५०—क्रिस्टलसेट के लिए, जिसके साथ एक समायोज्य वेष्ठन हो, एक सरल सर्किट।

एक दिशा की धारा शेष रह जाती है जिसे टेलीफोन में काम में लाया जाता है।

तरंगों को अलग-अलग करना

आप जानते हैं कि आपके एक ही रेडियो में अनेक स्टेशनों के समाचार प्राप्त हो जाते हैं। यह कैसे संभव है जब कि आकाशी तार पर न जाने कितने रेडियो स्टेशनों से आयी हुई तरंगें बराबर आकर गिर रही हैं। यह निश्चित रहता है कि कौन रेडियो स्टेशन किस वेवलेन्थ (तरंग दैर्घ्य) की लहरों में अपना संवाद भेजेगा। यह बात इस प्रकार सिद्ध की जाती है कि रेडियो में लगे हुये एक यन्त्र-विशेष द्वारा आकाशी तार का एक गुण जिसे इंडक्टेंस (आवेशक्षमता) और केपेसिटेन्स (समाई क्षमता)
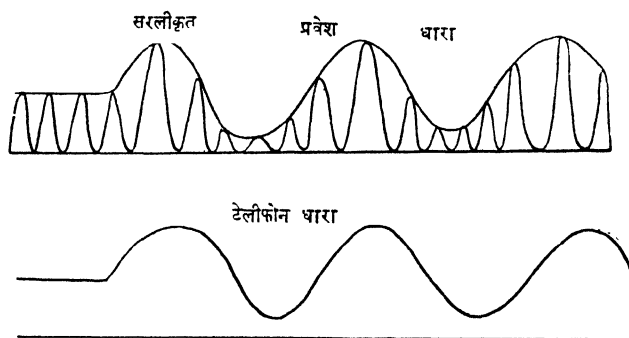
चित्र ५१—(क) तरंग का सरलीकरण, (ख) टेलीफोन में आने पर धारा का रूप।

कहते हैं परिवर्त्तित कर ली जाती है। आकाशी तार विशेष आवेश-क्षमता पर केवल एक ही प्रकार के तरंग दैर्घ्य ग्रहण कर सकेगा। सितार में खूँटियाँ कस कर तार अलग-अलग स्वरों से झंकृत होने

योग्य बनाया जा सकता है। तार के तनाव पर यह निर्भर है कि किस स्वर से वह अनुस्पन्दित हो सकेगा। इसी प्रकार आवेश-क्षमता पर यह निर्भर है कि आकाशी तार किस तरंग दैर्घ्य की लहरों से अनुस्पन्दित हो सकेगा। रेडियो यन्त्र में मूठ घुमा कर हम जब सुई किसी विशेष वेव-लेन्थ के स्थान पर लाते हैं, तो वस्तुतः ऐसा करके हम आकाशीतार की आवेशक्षमता बदल रहे हैं। हम इस बात को विस्तार से समझाने का यहाँ प्रयत्न नहीं करेंगे।

रेडियो और वाल्व

आजकल बेतार के तार का नाम रेडियो पड़ गया है। आरम्भ में मारकोनी ने जो यंत्र बनाया था, उसमें प्रेषक और ग्राहक दोनों भाग थे, अर्थात् इन यंत्रों से समाचार भेजे भी जा सकते थे और दूसरी जगह के सुने भी जा सकते थे। पर अब जो रेडियो सेट बिकते हैं, उनमें प्रेषक भाग नहीं होता। ये केवल ग्राहक यंत्र हैं। ट्रान्समिटिंग अर्थात् प्रेषक स्टेशनों पर सरकार का नियंत्रण है। हम सुन तो सब जगह के समाचार सकते हैं पर कहीं कोई समाचार भेज नहीं सकते। इसीलिये रेडियो से टेलीफोन का काम नहीं लिया जा सकता।

रेडियो के इतिहास में वाल्वों का नाम अमर रहेगा। तरंगों के शोधन का काम जो आरम्भ में रवे या क्रिस्टल रेक्टीफायर से लिया जाता था, वह अब इन वाल्वों से लिया जाता है। वाल्व न केवल शोधन अर्थात् आवर्त्त को सीधी तरंगों में परिणत करते हैं, बल्कि इनसे ध्वनि को तीव्र या एम्प्लीफाई करने का भी काम लिया जाता है।

वाल्व क्या हैं ? आपने पुराने बल्बों पर काजल सा लगा देखा होगा। धीरे-धीरे धातु के कण बल्बों के तार से गरम हो कर

उड़ते हैं, और ये काँच पर जमा हो जाते हैं। बहुत दिन हुये एडिसन ने एक प्रयोग किया। उसने बल्ब के भीतर दीप्तमान तारों के पास धातु का एक छोटा सा प्लेट लगा दिया। इस प्लेट से एक तार का संबंध बाहर बैटरी के धनात्मक सिरे से कर दिया और
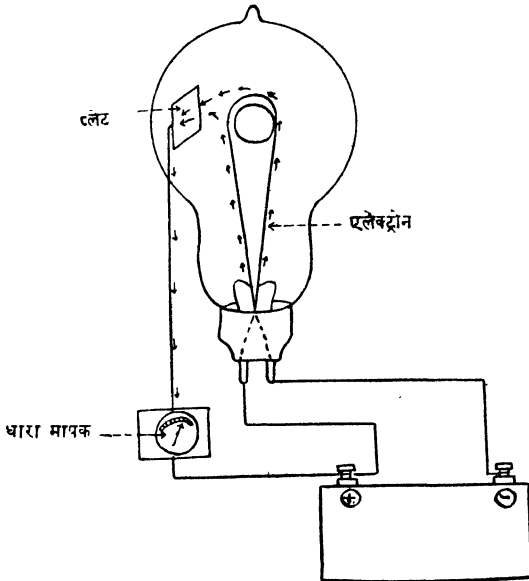
चित्र ५२—एडिसन का प्रयोग (रेडियो वाल्व)।

चक्र के बीच में एक गैलवेनोमीटर भी लगा दिया। एडिसन ने देखा कि जैसे ही बल्ब जलाया जाता है, गैलवेनोमीटर (धारामापक) की सुई एक ओर को हिलने लगती है। यह सुई क्यों हिली ? प्लेट और दीप्तमान तार तो अलग-अलग थे, फिर बिजली का चक्र पूरा कैसे हुआ ? एडिसन ने यह ठीक सोचा कि जब तार दीप्तमान होते हैं तो इनसे एलेक्ट्रोन नाम के बिजली के कण निकल कर धातु

के प्लेट पर पड़ते रहते हैं, और इनके प्रवाह के कारण बिजली का चक्र पूरा हो जाता है। प्लेट और दीप्तमान तन्तुओं के बीच में कितना अवस्था-भेद है यह यंत्र से नापा जा सकता है।

एडिसन के इस प्रयोग ने वाल्व को जन्म दिया। मारकोनी का एक सहकारी डा० जे० ए० फ्लेमिंग (J. A. Fleming) इस खोज में था कि रवों के अतिरिक्त कोई अन्य उपयोगी शोधक (रेक्टिफ़ायर) मिल जाय। उसने बहुत से पुराने बल्बों के भीतर धातु के प्लेट लगा कर एडिसन वाले प्रयोग किये। उसने दो सर्किटों (तार चक्र) का प्रयोग किया। एक सर्किट में तो प्लेट लगा यह बल्ब रक्खा और दूसरा सर्किट अनुस्पन्दित आवर्त्त धारा का था। जब-जब दोनों सर्किट पास में रक्खे गये एक की आवर्त्त धारा ने दूसरे सर्किट में सीधी धारा पैदा कर दी जिससे गैलवेनोमीटर की सुई एक ओर को घूमी।

जिस काम की फ्लेमिंग को तलाश थी वह काम बिजली के साधारण पुराने बल्ब से चल गया मानों अल्लादीन के पुराने लैम्प ने बेतार के तार को एक नया जीवन दे दिया हो। अगर ऊपर वाले सर्किट में गैलवेनोमीटर के स्थान में टेलीफोन रख दिया जाय तो वही सीधी धारा ध्वनि में परिणत हो जाती थी। इस प्रकार बेतार के तार की समस्या सुलझ गयी।
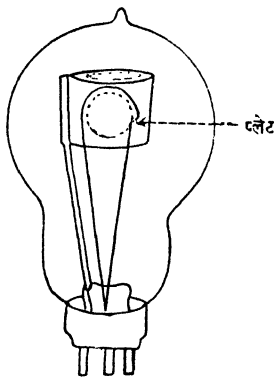
चित्र ५३—फ्लेमिंग के दो एलेक्ट्रोड वाले वाल्व

यह तो आप समझ ही गये होंगे कि बल्ब के तार दीप्त होने पर एलेक्ट्रोन देते हैं जिनसे सीधी धारा का जन्म होता है। येएलेक्टोन तार के गरम होने पर निकले हैं इसलिये

इन्हें थर्मिओन या तापाणु कहा जाता है। इस प्रकार जो वाल्व तैयार किया जाता है वह थर्मिओनिक वाल्व है।

वाल्व के आविष्कार के तीन वर्ष के अनन्तर सन् १९०७ में डा० ली डे फोरेस्ट (Lee de Forest) ने वाल्व के प्लेट और दीप्तमान तार के बीच में धातु की एक जाली लगा दी। यह जाली वाल्व का तीसरा एलेक्ट्रोड (विद्युत् द्वार) बन गयी। इस जाली को ग्रिड कहते हैं। काँच के बल्ब में एक तार और गला कर भीतर भेजा गया जिसका संबंध जाली या ग्रिड से कर दिया गया। वाल्व

वाल्व में ग्रिड या जाला का प्रयोग
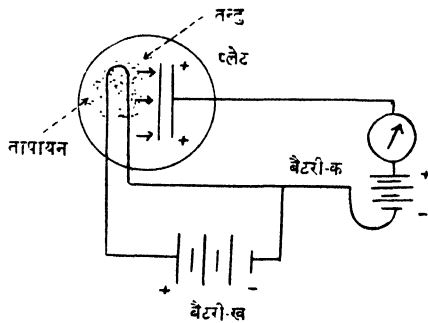
चित्र ५४—दो एलेक्ट्रोड वाली शून्य नलिका (वेक्यूम ट्यूब)।

में दीप्तमान तार से निकल कर जो विद्युत् धारा प्लेट की दिशा में बहती है, उसकी मात्रा के नियंत्रण में ग्रिड ने बहुत सहायता दी। धारा क्योंकि एक निश्चित सीधी दिशा में बहती है अतः इस तीन एलेक्ट्रोड वाले वाल्व ने बेतार के तार की कला में वह स्थान ले लिया जो शोधक रवों का था। तीन एलेक्ट्रोड वाले वाल्व को ट्रायोड वाल्व कहते हैं।

कई वाल्वों के रेडियो

आज कल के रेडियो यंत्रों में एक ट्रायोड वाल्व नहीं बल्कि ३ या ५ वाल्व तक काम में लाये जाते हैं। पहले वाल्व से आवर्त्त तरंग प्रबल (एम्प्लिफाई) की जाती है, दूसरे वाल्व से तरंग का शोधन (रेक्टिफिकेशन) होता है। यह शोधित धारा ग्राहक रेडियो के माइक्रोफोन में हलकी सी ध्वनि उत्पन्न करती है। इस ध्वनि को फिर और प्रबल करने के लिये तीसरे वाल्व का उपयोग करते हैं। ऐसा करने से विदेश से अनुस्पन्दित समाचार जोर से सुनाई देने लगता है।
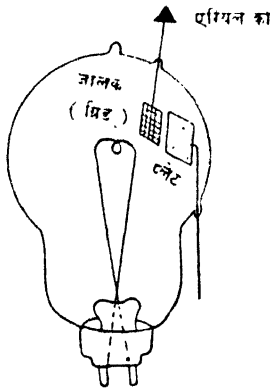
चित्र ५५—फ्लेमिंग वाल्व में फिलेमंट और एनोड के बीच में ग्रिड का प्रयोग।

प्रेपक स्थान से ग्राहक रेडियो के भीतर समाचार सुनाई पड़ने तक जितनी प्रक्रियाएँ होती हैं, उन्हें अब हम संक्षेप में समझ सकते हैं।

प्रेपक स्टेशन पर

ध्वनि की तरंगें माइक्रोफोन द्वारा बिजली के आवेशों में परिणत की जाती हैं। ये आवेश आरम्भ में मन्द होते हैं, पर इन्हें यंत्र द्वारा प्रबल किया जाता है। इसी समय स्टेशन से आवर्त्त धारा के यंत्र से आवर्त्त तरंगें चलती हैं। प्रबल किये गये आवेश इन आवर्त्त तरंगों पर सवार हो कर आकाशी तार से आकाश में सब ओर आगे बढ़ते हैं।

आवर्त्त तरंगों पर सवार अनेक स्टेशनों से आये हुये ये आवेश ग्राहक स्टेशन के आकाशी तार के संपर्क में आते हैं। यहाँ मुठिया घुमाकर आकाशी तारों की आवेश-क्षमता इस प्रकार

कर ली जाती है कि किसी विशेष स्टेशन से आये आवेश ही आकाशी तार में अनुस्पन्दन उत्पन्न कर सकें।

ग्राहक स्टेशन पर — अब इन हलके अनुस्पन्दनों को एक वाल्व द्वारा फिर प्रबल किया जाता है। इस स्थल तक तरंगें अभी आवर्त्त हैं, अतः इन्हें सीधी तरंगों में परिणत करने का काम दूसरे वाल्व में होता है। इस तरह उत्पन्न हलकी सीधी तरंग तीसरे वाल्व द्वारा जिसका संबंध टेलीफोन के से यंत्र से होता है फिर प्रबल की जाती है।

इस प्रकार जैसे शब्द प्रेषक स्टेशन से चले थे, वैसे ही ग्राहक स्टेशन पर पहुँच गये।

हम अपने रेडियो के विवरण को यहीं समाप्त करेंगे। हर वर्ष नये सुधारों के साथ नये रेडियो सेट बन रहे हैं। आदर्श रेडियो सेट वह है जिसमें दूर से दूर स्थानों के संदेश भी स्पष्ट सुनाई पड़ सकें, बहुत भिन्न तरंग-दैर्घ्य वाले स्टेशनों की भी जिसमें गुंजायश हो, जिसमें वातावरण द्वारा उत्पन्न विक्षेप (एटमास्फेरिक्स) कम से कम प्रभाव डाल सकें, जिनमें घड़घड़ाहट भी कम हो, और जिसमें आई हुई ध्वनि को हम इच्छानुसार तीव्र या मन्द कर सकें। इन सब सफलताओं के लिये वाल्वों में भी बड़ा सुधार किया जा रहा है। ट्रायोड वाल्व (अर्थात् जिसमें बिजली के तीन द्वार-- ऋण का, धन का और एक जाली या ग्रिड का) के स्थान पर पेंटोड वाल्वों का भी उपयोग किया जाता है। इस वाल्व में तीन जालियाँ होने के कारण बिजली के ५ द्वार होते हैं। इससे ध्वनि की प्रबलता बहुत सरलता से हो जाती है, और घड़घड़ाहट बहुत कम हो जाती है।

लाउड स्पीकर

रेडियो के वर्णन के साथ दो-चार शब्द लाउड स्पीकर अर्थात्

उच्चस्वरी यंत्रों के संबंध में कुछ कह देना अनुपयुक्त न होगा। यदि हम किसी को दूर से बुलाना चाहते हैं तो पुकारते समय मुट्ठी का खोल-सा बना कर मुँह के आगे रखते हैं। ऐसा करने से ध्वनि इधर-उधर न बिखर कर सीधे आगे की ओर जाती है। रेडियो के साथ ऐसे लाउड स्पीकरों का उपयोग होता है जो ध्वनि को इतना तीव्र कर देता है कि इकट्ठा हुये बहुत से लोग आसानी से सुन सकते हैं। लाउड स्पीकर का प्रयोग आजकल व्याख्यानों में भी किया जाता है। एक एक लाख की भीड़ को यदि कोई संदेश पहुँचाना है तो थोड़ी-थोड़ी दूर पर कई लाउड स्पीकर लगा दीजिये, और माइक्रोफोन पर बोलिये। सभी जगह संवाद सुनाई पड़ेगा। मेलों में ये लाउड स्पीकर बड़े काम के हैं। किसी का बच्चा अगर खो गया है तो लाउड स्पीकर द्वारा मेले भर में विज्ञापन कर दीजिये, बच्चे के मा-बाप जहाँ भी होंगे, सुन लेंगे।

आजकल कई प्रकार के लाउड स्पीकरों का प्रयोग होता है। आरम्भिक लाउड स्पीकर में टेलीफोन रिसीवर और उसके साथ लगा हॉर्न होता था। आजकल के लाउड स्पीकरों में डायफ्राम, आरमेचर, और तारों की कुंडलियों का संयोग होता है। बैटरी से या बिजलीघर वाली बिजली से ये यंत्र संचालित होते हैं। मोटर गाड़ियों और आकाश में १००० फुट पर उड़ते हवाई जहाजों में बिजली की बैटरी से लाउड स्पीकर काम करते हैं, और एकत्रित भीड़ को संदेश पहुँचाते हैं। डुग्गी पीटने का काम आजकल इनसे लिया जाता है।

९—दिव्य दृष्टि या टेलीविज़न

कहा जाता है कि योगियों को ऐसी विभूति प्राप्त हो जाती है कि वे कहीं भी बैठे हुये दूर-दूर स्थानों के दृश्य आँखें मूँद कर देख लेते हैं। उनकी दिव्य दृष्टि से सैकड़ों मील की घटनायें भी ओझल नहीं रह सकतीं। यह बात योगियों के लिये ठीक हो या न हो पर आजकल विज्ञान के चमत्कार से यह संभव हो गया है कि दिल्ली में होने वाली घटनाओं को हम कलकत्ते में बैठे हुये ऐसे देखें मानों वे हमारे आँखों के सामने ही हो रही हों। १२ मई सन् १९३७ की बात है कि सम्राट् के राज्याभिषेक के जलूस के दृश्य को बी० बी० सी० (ब्रिटिश ब्रॉडकास्ट कॉरपोरेशन) ने टेलीविज़न द्वारा घर-घर पहुँचा दिया था। लंडन में अपने घरों में बैठे ही १०००० के लगभग लोगों ने वह दृश्य देखा जब कि जलूस वेस्टमिनिस्टर एबे से लौटता हुआ हाइड पार्क कॉर्नर के ऐप्सले गेट से निकला। रेडियो द्वारा जैसे आजकल दूर-दूर से संवाद आते हैं उसी प्रकार के यन्त्रों द्वारा एक देश से फोटोग्राफ भी दूसरे देशों में भेजे जा सकते हैं। लंडन में आज दी गयी चर्चिल की वक्तृता आपके समाचार पत्रों में कल छप जाती है, और यही नहीं, चर्चिल का आज का चित्र भी उस वक्तृता के साथ छप जाता है।

जादू की आँख (फोटो-एलेक्ट्रिक सेल)

दिव्य दृष्टि या टेलीविज़न वाले प्रयोग कभी न सफल होते अगर हमें "जादू की आँख" न मिल जाती। अतः हम पहले इस आँख के आविष्कार का उल्लेख करेंगे। इसकी कहानी भी पुरानी है। सन् १८३९ में फ्रेंच वैज्ञानिक बेकेरेल (Becquerel)

ने यह देखा कि किसी बैटरी में दोनों प्लेट एक ही पदार्थ के रक्खे जायँ तो उनको तार से जोड़ देने पर बिजली की कोई धारा नहीं बहती, पर यदि एक प्लेट को अंधेरे में रक्खा जाय और दूसरे प्लेट पर रोशनी छोड़ी जाय तो हलकी-सी बिजली की धारा पैदा हो जाती है। बेकेरेल के इन प्रयोगों से लोगों ने लाभ न उठाया। बाद को सन् १८७३ में विलौबी स्मिथ (Willoughby Smith) नामक एक व्यक्ति ने यह देखा कि सेलीनियम नामक तत्व जो गुणों में बहुत कुछ गन्धक के समान होता है, विद्युत् अवरोध रोशनी पड़ने पर बदल जाता है। रोशनी जितनी ही चटक होगी यह अवरोध भी उतना ही अधिक बदल जायगा। सेलीनियम का यह गुण विशेष महत्त्व का है, और हमारी जादू की आँख इस सेली-नियम की ही बनायी गयी है।

सेलीनियम की आँख का बहुत दिनों तक प्रयोग न हो सका। इसका कारण यह था कि रोशनी पड़ने पर इसका अवरोध बदल तो
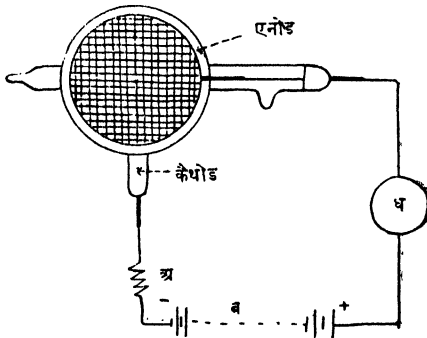
चित्र ५६—फोटो एलेक्ट्रिक सेल का सिद्धान्त

जाता है पर रोशनी हटते ही पुराना अवरोध शीघ्र लौट नहीं आता —कुछ समय लग जाता है। पर सेलीनियम से बनी "आँखों" का

यह दोष अब दूर कर दिया गया है। हमारी यह आँख हरेक रंग की रोशनी को भी पहिचान लेती है क्योंकि इसका अवरोध हर रंग की रोशनी में अलग-अलग मात्रा तक बदलती है, लाल रोशनी में सबसे अधिक, नीली में कम। अल्ट्रावॉयलेट (नीलोत्तर) रोशनी में भी यह अवरोध अधिक हो जाता है। अंधेरे और दिन के उजियाले के अवरोधों में ६ गुने से १० गुने तक का अन्तर पड़ जाता है।

प्रकाश से सेलीनियम के विद्युत् अवरोध का घटना-बढ़ना हमारे लिये बड़े महत्त्व का हो गया है। पहले हम कह चुके हैं कि माइक्रोफोन या टेलीफोन कैसे काम करता है। आपको याद होगा कि जब मुँह से निकली ध्वनि माइक्रोफोन के डायफ्राम पर पड़ती है, तो डायफ्राम स्पन्दित होने लगती है, और इसके स्पन्दन के साथ कार्बन के प्लेट पर का दबाव घटता-बढ़ता है। दबाव के घटने-बढ़ने पर कार्बन का अवरोध भी घट-बढ़ जाता है। इस अवरोध का ही उपयोग कर के हम टेलीफोन बना सके हैं। ध्वनि के अनुसार टेलीफोन में अवरोध घटता-बढ़ता है, और हमारी सेलीनियम की आँख में रोशनी के कारण अवरोध घटता-बढ़ता है। टेलीफोन से यदि हम दूर से समाचार सुन सकते हैं, तो क्या हम सेलीनियम की आँख से दूर के दृश्य देख न सकेंगे!
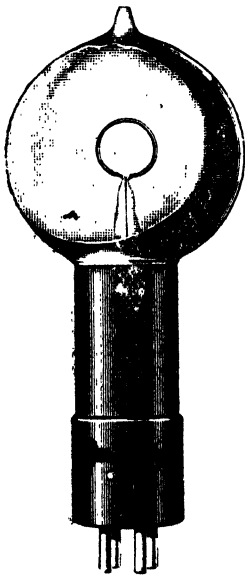
चित्र २७ — फोटो-एलेक्ट्रिक सेल (जादू की आँख)

जादू के दरवाज़े

जब से जादू की आँख अर्थात् सेलीनियम सेल का पता चला है तब से चमत्कार के अनेक काम किये जा सके हैं। जादू की आँखें न केवल सेलीनियम की, और भी बहुत से पदार्थों की बनाई गयी हैं। हम उन सबका यहाँ विस्तृत वर्णन नहीं दे सकते। आपने अलीबाबा और चालीस चोर वाली कहानी सुनी होगी। चोरों के ख़ज़ाने का फाटक विशेष शब्द कहने पर खुल जाता था। अमरीका के बच्चों वाले एक रेस्टराँ (उपाहार गृह) में इस प्रकार के 'स्टेनले मैजिक डोर' अर्थात् ऐसे जादू के दरवाज़े लगे हैं जिनको खोलने और बन्द करने के लिये किसी नौकर की आवश्यकता नहीं। उन दरवाज़ों में जादू की आँखें लगी हैं जिन पर सामने की ओर से प्रकाश पड़ रहा है। जैसे ही कोई बच्चा दरवाज़े के सामने आयेगा, यह प्रकाश उसके शरीर से रुक जायगा। इसका परिणाम यह होगा कि जादू की आँख का विद्युत् अवरोध बदल जाने के कारण बिजली की एक धारा बहने लगेगी। यह धारा दरवाज़े में लगे मोटर को चला देगी जिससे दरवाज़ा अपने आप ऊपर उठ जावेगा। बच्चा दरवाज़े में ज्यों ही भीतर घुसा, जादू की आँख पर फिर रोशनी पड़ेगी, और बाधा पहले की सी ही हो जाने पर दरवाज़ा फिर अपने आप नीचे आ जावेगा और बन्द हो जायगा।

जादू की आँख और बोलपट सिनेमा

बोलपट सिनेमा (टॉकी) में आज जो सफलता मिल सकी है वह भी सेलीनियम से बनी जादू की आँख द्वारा है। पहले आरम्भिक युग में फिल्म से परदे पर चित्र पड़ता था, और साथ में फोनोग्राफ के रिकार्डों को चला कर बातचीत कराई जाती थी। चित्र के चलने की गति और रिकार्डों की गति एक दूसरे के अनु-कूल रखना कुशल कारीगर या मिस्त्री का ही काम था। आजकल

एक ही फिल्म पर बीच में तो चित्र होता है और एक किनारे पर साथ ही साथ ध्वनि का भी चित्र होता है। इस चित्र पर जब रोशनी पड़ कर दूसरी ओर फिल्म में से होती हुई सेलीनियम वाली जादू की आँख पर पड़ती है, तो इसकी बाधा में परिवर्त्तन हो जाता है। इस परिवर्त्तन द्वारा पैदा बिजली की धारायें टेलीफोन या लाउड स्पीकर में ध्वनि उत्पन्न कर देती हैं। इस प्रकार चित्र के साथ-साथ रोशनी और फिल्म के संयोग से ही शब्द उत्पन्न कर लिये जाते हैं।

आप सोचते होंगे कि फोटो की फ़िल्म पर चित्र तो अंकित हो सकता है, पर गाने कैसे अंकित हो सकते हैं। यह काम एक अलौकिक यंत्र से किया जाता है। माइक्रोफोन के पास यदि कोई गावे, तो इसके डायफ्राम के स्पन्दनों से इसके भीतर के कार्बन का विद्युत् अवरोध घटे-बढ़ेगा। इसके अनुसार बिजली की धारा कम-अधिक किसी सर्किट (तार-चक्र) में प्रवाहित होगी। यह धारा मन्द होती है इसलिये इसे औडियन एम्प्लीफायर से प्रबल कर लेते हैं। इस प्रबल धारा से जलने वाले बल्ब या फोटायन ट्यूब की रोशनी भी उसी अनुपात में कभी मन्द और कभी तीव्र हो जायगी। फोटो की फिल्म पर रोशनी का यह मन्द और तीव्र होना ही अंकित कर लिया जाता है। ध्वनि का बिजली से और बिजली का प्रकाश से यह संबंध हमें ध्वनि की फिल्म देता है। सिनेमा घर में इस फिल्म से निकला प्रकाश बिजली में परिणत होता है, और यह बिजली तदनुसार ध्वनि में। इस प्रकार जिन स्वरों में गाना माइक्रोफोन पर सिनेमा के किसी पात्र ने गाया था, सिनेमा घर में वह गाना सेलीनियम की आँख की सहायता से उन्हीं स्वरों में व्यक्त हो गया। यह याद रखना चाहिये कि सेलीनियम की आँख की सहायता से उत्पन्न बिजली की धारा बहुत मन्द होती है इसलिये इसे औडियन

प्रबर्धक यंत्र या "औडियन एम्प्लीफायर" में एक लाख गुना प्रबल किया जाता है। इतना करने पर ही गाने सिनेमा घर में सुनाई पड़ने योग्य उच्च स्वर के किये जा सकते हैं।

ऊपर दिये गये सिद्धान्त के आधार पर सबसे पहली ध्वनि फिल्म ("फोनो-फिल्म") ली डे फौरेस्ट (Lee de Forest) ने १६२३ में तैयार की थी। आज तो प्रत्येक उन्नत देश में चित्रपट बनाने के अनेक कारखाने हैं। चलती-फिरती बोलती तसवीरें जनता के मनोरंजन का साधन बनी हुई हैं।

तार द्वारा चित्र भेजना

टेलीफोन के तारों के आधार पर समाचार तो भेजे ही जाते हैं, चित्र भी एक स्थान से दूसरे स्थानों को भेजे जा सकते हैं। १६ मई १६२४ की घटना है कि क्लीवलैंड, ओहियो में एक चित्र लिया गया। यह चित्र ४० मिनट के भीतर ही न्यूयार्क की 'अमरीकन टेलीफोन एंड ट्रेलीग्राफ कंपनी' के कमरे में खिंच कर, डेवेलेप आदि सब कुछ हो कर उपस्थित सदस्यों के सामने पहुँच गया। चित्र के भेजने में तो केवल ५ मिनट लगे थे, और शेष समय चित्र डेवेलेप करने, धोने, सुखाने में लगा था। पारदर्शक फिल्म पर लिया गया कोई भी पोज़िटिव चित्र टेलीफोन के तार पर भेजा जा सकता है। इस विधि द्वारा किसी का हस्तलेख, छपा हुआ कोई लेख, वा चित्रकार द्वारा खींचा गया कोई चित्र भी दूर भेज सकते हैं।

प्रेषक स्टेशन पर एक सिलेंडर के चारो ओर चित्र का फिल्म लपेट देते हैं। इस चित्र पर तेज़ रोशनी डाल कर थोड़ा सा अंश (१ वर्ग इंच का १०० वाँ भाग) आलोकित करते हैं। यह रोशनी फिल्म में से निकल कर फोटो एलेक्ट्रिक सेल (सेलीनियम की जादू की आँख) पर पड़ती है। यह सेल सिलेंडर के भीतर रक्खी होती

है। सेल के अवरोध में अन्तर पड़ जाता है, और बिजली की धारा न्यूनाधिक बहने लगती है। इस धारा को वाल्वों द्वारा प्रबल कर लिया जाता है, और यह धारा टेलीफोन के तारों द्वारा ग्राहक स्टेशन पर पहुँचती है।

ग्राहक स्टेशन पर पहुँची धारा फिर प्रबल की जाती है, और इस धारा से जलने वाले 'प्रकाश वाल्व' की रोशनी कम या अधिक होने लगतो है। यह रोशनी फोकस करके फिर सिलेंडर पर लपेटी हुई वैसी ही फिल्म पर पड़ती है जैसी फिल्म प्रेषक स्टेशन पर थी। यहाँ प्रेषक स्थल वाला चित्र फिल्म पर फिर उतर आता है। यह ध्यान रखना चाहिये कि प्रेषक और ग्राहक दोनों स्टेशनों के सिलेंडर ठीक एक ही गति से घूमें।

टेलीविज़न किस प्रकार सफल हुआ ?

हमारे देश में अभी टेलीविज़न का प्रचार नहीं है, पर आशा की जाती है कि थोड़े दिनों बाद टेलीविज़न वही स्थान ग्रहण कर लेगा जो इस समय रेडियो का है। १९३४ के पहले लंडन में भी इसका उपयोग नहीं हुआ था। मई १९३४ को पोस्ट मास्टर जनरल ने इसके व्यवहार के संबंध में एक कमीशन बनाया। इस कमीशन के सदस्य अमरीका और जर्मनी गये जहाँ इस कला की विशेष उन्नति की गई थी। उनकी जाँच के आधार पर बी० बी० सी० के लंडन टेलीविज़न स्टेशन में जो एलेक्जेंड्रा पैलेस में था दो पद्धतियों पर काम आरंभ किया गया,—एक तो बेयर्ड की पद्धति पर और दूसरा मार्कोनी की ई. एम्. आई. पद्धति पर। चित्रों के प्रेषण का वास्तविक काम नवम्बर १९३६ से आरंभ हो सका। दोनों पद्धतियों की तुलना करने पर यह निश्चय हुआ कि मार्कोनी ई. एम्. आई पद्धति का ही अवलम्बन किया जाय। इस पद्धति पर ५० चित्र प्रति सेकंड भेजे जा सकते थे।

टेलीविज़न को बेतार के तार द्वारा चित्र भेजना कहना चाहिये। तार द्वारा भी टेलीफोन के समान यह चित्र भेजे जा सकते हैं। इस पद्धति में चित्र के बिम्ब को बिजली की धाराओं में परिणत किया जाता है और ये धारायें टेलीफोन के तार द्वारा अथवा रेडियो के प्रेषक यन्त्र द्वारा ईथर की तरंगों में परिणत हो कर ग्राहक स्टेशनों तक भेजी जाती हैं। बिम्ब बिजली की धारा में कैसे परिणत होता है, यह तो सेलीनियम सेल के गुणों से स्पष्ट हो गया होगा। प्रत्येक बिम्ब प्रकाश की किरणों से बनता है। अगर हम किसी को अपनी आँखों से देखने में सफल हो रहे हैं, तो इस कारण कि उसके शरीर से निकली प्रकाश की किरणें हमारी आँखों तक आ रही हैं। ये किरणें सेलीनियम के सेल पर पड़ कर भी अपना प्रभाव दिखा सकती हैं।

पर एक कठिनाई है। मान लीजिये कि एक पदार्थ कई रंगों का है। उसके हर एक अंग से अलग-अलग तरह की ज्योति निकल रही है। अब क्या हमें हर एक के लिये अलग-अलग सेलीनियम सेल लेनी चाहिये। ऐसा करने पर तो करोड़ों सेल होने पर काम निकल सकेगा। ३"×४" आकार के चित्र के लिये १२०००० सेलों की आवश्यकता होगी। यह कठिनाई कैसे दूर की गई यह बात जे० एल० बेयर्ड (Baird) के आविष्कार से स्पष्ट है। उसने एक सेल से ही पूरे चित्र का काम निकाला। यह कैसे संभव हुआ, इसका विवरण हम नीचे देंगे।

बेयर्ड का प्रस्तरण चक्र

आप यह तो जानते हैं कि सिनेमा के परदे पर चित्र चलते-फिरते क्यों दिखाई पड़ते हैं। वास्तव में सिनेमा की फिल्म पर तो प्रत्येक चित्र स्थिर है। पर एक के बाद एक चित्र इस प्रकार जल्दी-जल्दी परदे पर आते हैं कि आँखों को यह अभ्यास

लगता है कि चित्र चल-फिर रहे हैं। यदि कोई चित्र नेत्र के सामने आवे तो लगभग १/८ सेकंड तक इसकी स्मृति बनी रहती है। इतने में ही आगे का भी चित्र आ जावे तो मनुष्य मस्तिष्क द्वारा दोनों चित्रों के संबंध को स्थापित कर लेता है। सिनेमा में प्रत्येक दृश्य के चित्र १/२० सेकंड के लगभग के अन्तर से खींच लिये जाते हैं, और यदि फिल्म इसी वेग से खिसकाई जावे तो परदे पर जो चित्र आवेंगे उनमें दृश्य असली के समान ही चलता-फिरता दिखाई देगा।

सिनेमा की सफलता इसी बात पर निभर है कि प्रति सेकंड परदे पर २४ के लगभग चित्र आते हैं। आँखों में एक चित्र की स्मृति बनी ही रहती है, तब तक आगे का चित्र सामने आ जाता है। इस कारण खंडित होने पर भी चित्रावली खंडित नहीं प्रतीत होती। टेलीविज़न में देखे गये चित्र की अखंडता भी लगभग इसी प्रकार की है। बेयर्ड ने एक गोल प्रस्तरण चक्र (स्कैनिंग डिस्क) का उपयोग किया। इसमें चक्र की परिधि के निकट छोटे-छोटे अनेक छेदों की कुंडली-सी बनी रहती है। ये छेद क्रम से बराबर दूरी पर स्थित रहते हैं। शैफ्ट या धुरी के आधार पर यह चक्र घुमाया जाता है। घूमते हुये चक्र के एक ओर दीपक और दूसरी ओर एक परदा रक्खा जाय, तो हर छेद में से
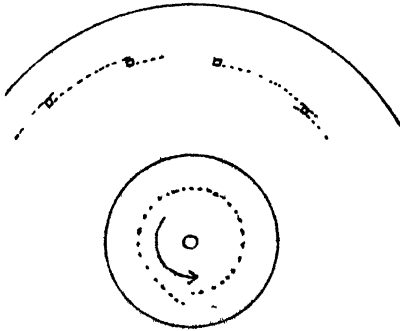
चित्र ५८—टेलीविज़न या दूर-दर्शन के प्रस्तरण की डिस्क या चकई, जिसमें छेदों का क्रम दिखाया गया है।

हो कर रोशनी परदे पर आयेगी और क्योंकि चक्र घूम रहा है इसलिये हर छेद से आई रोशनी एक गोल चाप बनायेगी। छेद चक्र में काफ़ी दूर-दूर रक्खे जाते हैं जिससे एक समय में परदे पर एक छेद का ही बिम्ब पड़े। जैसे-जैसे चक्र नाचता है, यह बिम्ब परदे पर ऊपर की ओर खिसकता जाता है। परदे के ऊपरी
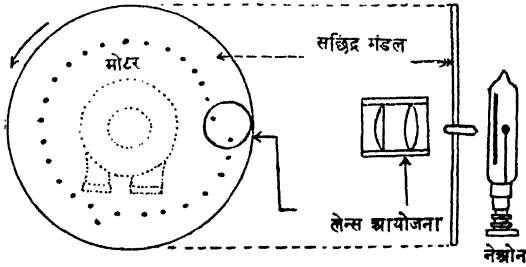
चित्र ५६—डिस्क या चकई वाले टेलीविज़न रिसीवर (दूरदर्शन ग्राहक) का सिद्धांत।

सिरे पर पहुँच कर यह लुप्त हो जाता है। जैसे ही यह लुप्त होता है, दूसरे छेद का बिम्ब नीचे से आरंभ होता है। इसी प्रकार बारी-बारी से एक-एक छेद काम करता है। इस प्रक्रिया को 'प्रस्तरण' (स्कैनिंग) कहते हैं। क्योंकि बिम्ब परदे पर नीचे से ऊपर की ओर उठता है, इसलिये इसे ऊर्ध्व प्रस्तरण (वर्टिकल स्कैनिंग) कहा जायगा। अगर चक्र तेज़ी से घुमाया जाय तो एक छेद के बिम्ब-चाप के बाद दूसरे छेद का बिम्ब-चाप इतनी जल्दी आयगा कि सम्पूर्ण दृश्य अखंडित प्रतीत होगा (चित्र ६०), सम्पूर्ण परदा बराबर आलोकित रहेगा।

जिस दृश्य को टेलीविज़न द्वारा कहीं भेजना होता है उसे प्रचंड रोशनी से आलोकित करते हैं, और फिर प्रस्तरण चक्र द्वारा उसका प्रस्तरण किया जाता है। (ठीक उसी प्रकार जैसे पुस्तकों

के चित्रों के हाफटोन ब्लॉक बनाने के लिये चित्र के आगे महीन जाली रखते हैं। वस्तुतः छपा हुआ चित्र छोटे-छोटे विन्दुओं को पास-पास रख देने से बना है। चित्र का विन्दुओं में प्रस्तरण जाली द्वारा किया जाता है)। दृश्य के ये सूक्ष्म प्रस्तृत अंश अपने प्रकाश को सेलीनियम की फोटो-एलक्ट्रिक सेल पर डालते हैं, जिनसे विद्युत् आवेशों की एक माला प्रवाहित होती है। इसे टेलीफोन या रेडियो तरंगों के समान आगे भेजा जा सकता है। यह ठीक है कि इन तरंगों को एम्प्लीफायर यंत्रों द्वारा प्रबल करने की भी आवश्यकता पड़ेगी। रेडियो के प्रेषक स्टेशन से वाहक तरंग के आश्रित जैसे समाचार चलते हैं, वैसी ही आवर्त्त-तरंगों पर चित्रों के ये आवेश भी चलेंगे।
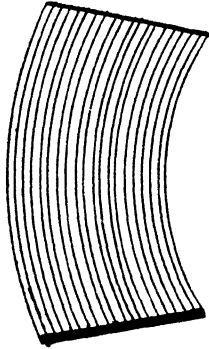
चित्र ६०—प्रस्तरण चक्र द्वारा अंकित रेखायें।

ग्राहक स्थल पर आई तरंगों को फिर पूर्ववत् वाल्व आदि के द्वारा प्रबल करना पड़ेगा। यहाँ आये हुये विद्युत् आवेशों को फिर प्रकाश की तरंगों में बदला जायगा और सिनेमा के चल-चित्रों के समान परदे पर फिर इन्हें डाला जायगा। इस काम के लिये ग्राहक स्थल पर भी प्रेषक स्थल के-से प्रस्तरण चक्र का उपयोग कुछ दिन पूर्व किया जाता था।

प्रस्तरण चक्र से टेलीविज़न को सफलता तो मिली पर इससे भेजे गये चित्र बहुत स्पष्ट नहीं थे। प्रस्तरण का काम बाद को एक ढोल से लिया गया। इस ढोल में चारो ओर थोड़ा-थोड़ा खिसका कर लगभग २० दर्पण लगा दिये गये थे। प्रस्तरण चक्र में जो काम छेदों से लिया जाता था, वह इसमें दर्पणों से। ढोल तेज़ी से

घुमाया जाता था—प्रति मिनट ६००० चक्कर होते थे। इस प्रकार ढोल द्वारा प्रस्तरण में प्रतिबिम्बित प्रकाश से काम लिया जाता था। इस विधि ने टेलीविज़न के बहुत से दोषों को दूर कर दिया।
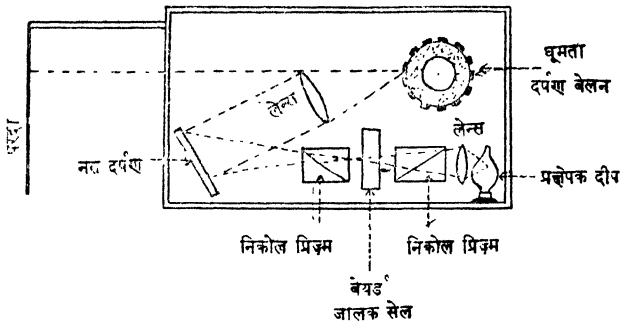
चित्र ६१—टेलीविज़न रिसीवर का एक सुधरा हुआ रूप जिसमें घूमते हुए दर्पण-बेलन और केर सेल का प्रयोग होता है।

आजकल टेलीविज़न में चित्र प्रेषण का काम एक विशेष एलेक्ट्रोन केमेरा से चलाया जाता है। इसमें प्रस्तरण का सम्पूर्ण कार्य एलेक्ट्रोन की किरणें करती हैं। यह केमेरा बहुत सुन्दर चित्र देता है, और सिनेमा के केमेरा के समान इसका उपयोग भी सरलता से कर सकते हैं।

नाटक और सिनेमा दोनों

बेयर्ड की एक नवीन पद्धति में जिस दृश्य को टेलीविज़न द्वारा भेजना होता है उसका चलता-फिरता चित्र एक चलती-फिरती फिल्म पर लेते हैं। फिल्म के केमेरा में ऐसा प्रबन्ध होता है कि एक क्षण फिल्म पर चित्र उतरता है, और दूसरे क्षण यह फ़िल्म थोड़ा-सा खिसक जाती है, और चित्र का उतरा भाग डेवेलप हो जाता

है, और तीसरे क्षण में इतना दृश्य टेलीविजन से ग्राहक स्टेशन पर पहुँच जाता है। इसी प्रकार बारी-बारी से सम्पूर्ण दृश्य कुछ सेकंडों के भीतर ही दूर देशों में पहुँच जाता है। इस पद्धति में सुविधा यह है कि दृश्य की सिनेमा फिल्म भी तैयार हो जाती है, और साथ ही साथ टेलीविजन से दूर देशों में चित्र परदे पर आ भी जाते हैं। इस पद्धति द्वारा नाटक और सिनेमा दोनों का आनन्द मिलता है। नाटक इसलिये कि जिस क्षण नाट्य हो रहा है उसी क्षण आपको दृश्य दीख भी रहा है, मानों नाटक के पात्र आपके सामने ही खेल दिखा रहे हों। सिनेमा इसलिये कि इसकी फिल्म को आप जब और जहाँ चाहें काम ले आयें।

एमिट्रोन केमेरा

हम कह चुके हैं कि आजकल चित्रप्रेषण का काम एलेक्ट्रोन केमेरा से लिया जाता है। बेयर्ड की विधि में ग्राहक स्टेशन पर ह. अधिकतर इस केमेरा का उपयोग करते थे। इस केमेरा में कैथोड किरणों वाली नली का उपयोग होता है जिसका उल्लेख एक्स-रश्मियों के अध्याय में हम कर चुके हैं। इस नली में बहुत ऊंचा वोल्टेज लगाने पर एलेक्ट्रोन (बिजली के ऋण कण या ऋणाणु) कैथोड (ऋण द्वार) से निकलते हैं और धन द्वार की ओर तेजी से जाते हैं। यदि इनके निकट चुम्बक लाया जाय तो ये विचलित हो जाते हैं। यही नहीं, चुम्बक न लाकर एलेक्ट्रोन की किरणों को धनविद्युत् से आविष्ट प्लेटों के बीच में से निकाला जाय तो भी ये विचलित होते हैं। प्लेटों पर आवेश ईथर की आवर्त्त तरंगों द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है। ग्राहक स्टेशन पर प्रेषक स्टेशन से आयी हुयी तरंगें प्लेटों को घटाती-बढ़ाती हैं, और उनके अनुसार ही कैथोड किरणों के मार्ग में भी कम या अधिक विचलन होता है। फ्लोरेसेंट परदे पर किरणों का मार्ग चमक देख कर पता

लगाया जा सकता है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि प्रेषक
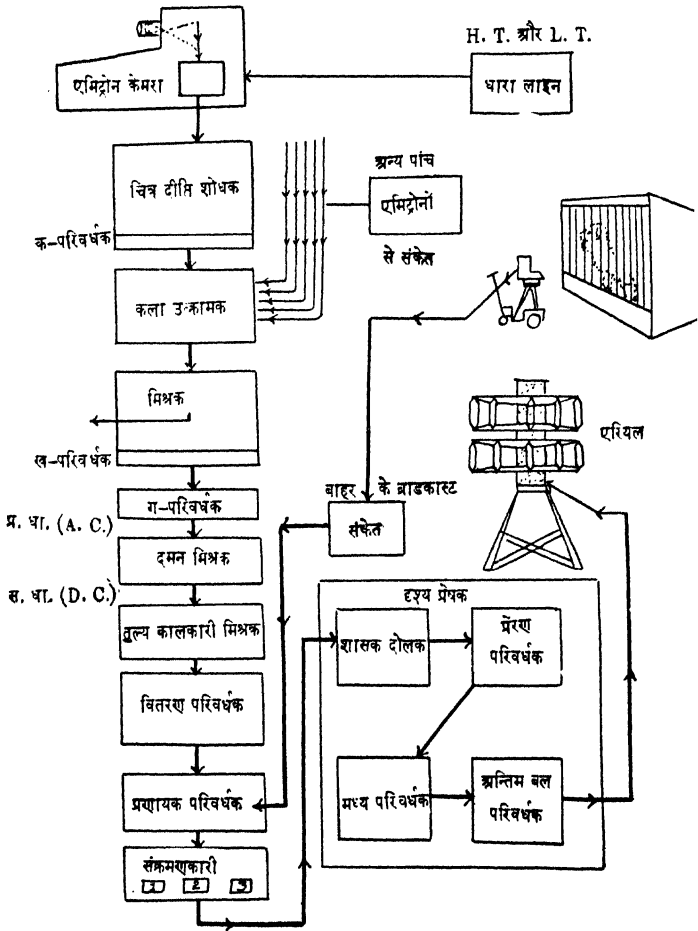
चित्र ६२—टेलीविज़न में एमिट्रोन केमरा से लेकर एरियल तक का प्रबन्ध।

स्टेशन से आयी हुयी तरंगें ग्राहक स्टेशन पर कैथोड किरणों द्वारा

प्रदत्त चमक में परिवर्त्तन लाती रहती हैं, और इस परिवर्त्तन के साथ सम्पूर्ण चित्र अंकित हो जाता है। जिस केमेरा द्वारा यह सब कुछ होता है उसे एलेक्ट्रोन केमेरा कहते हैं। इससे परदे पर ८ फुट × ६ फुट आकार की स्पष्ट तसवीर फेंकी जा सकती है।

मार्कोनी की इ० एम० आई० पद्धति में एमिट्रोन टेलीविज़न केमेरा का उपयोग होता है। एमिट्रोन (emitron) के प्रथम तीन अक्षर ई० एम० आई० के आधार पर मार्कोनी की इस पद्धति का नाम पड़ा है। इसे बिजली की आँख या "विद्युत-नेत्र" (एलेक्ट्रिक आई) कहते हैं। प्रेपक स्टेशन पर इसे प्रेपक यंत्र से संबंधित कर देते हैं। मार्कोनी की पद्धति में ६ एमिट्रोन केमेरों का एक साथ उपयोग होता है। प्रत्येक केमेरा दृश्य का एक-एक चित्र देता है। केमेरा का संचालक अध्यक्ष यह देखता रहता है कि कौन चित्र भेजने योग्य है और कौन नहीं। केवल उचित चित्र का ही प्रेपक यंत्र से प्रेपण किया जाता है।

मार्कोनी की पद्धति में जिस दृश्य का प्रेपण करना होता है उसे लेन्स द्वारा एक चैतन्य प्लेट पर फोकस करते हैं (जैसे फोटो के केमेरा में फिल्म पर)। पर यह चैतन्य प्लेट फिल्म से भिन्न होता है। इसके अगले भाग पर चित्तीदार अभ्रक की पत्ती होती है और पिछले पर धातु की पत्ती। मोजेक फर्श पर जैसी चित्तियाँ होती हैं वैसी ही इस प्लेट पर भी होती हैं। बिजली की सहायता से इन चित्तियों में परस्पर वोल्टन स्थापित किया जाता है। कैथोड किरणें भी इस प्लेट पर पड़ती हैं, और स्थापित वोल्टन द्वारा इनमें विचलन होता है। हमारे पास यहाँ स्थान नहीं है कि एमिट्रोन केमेरा के कार्य का विस्तृत वर्णन दे सकें। साधारण पाठक को समझने में भी कुछ उलझनें होंगी।

इस केमेरा में अभी भविष्य में और भी सुधार होंगे। मार्कोनी की इ० एम० आई० पद्धति एलेक्जेंड्रा राजमहल में फरवरी १६३७ में स्थापित की गयी थी। युद्ध छिड़ जाने के कारण चित्र प्रेषण की कला का बहुत प्रचार नहीं हो सका है पर आगामी दस वर्षों में यह अवश्य सर्वसुलभ हो जायगी।

———

७—प्रकाश का युग—लेन्स और दर्पणों की दुनिया

यह कहना अनुचित न होगा कि हमारे शरीर में सबसे अधिक महत्त्व आँख का है। आँख ज्ञान का प्रतीक है। यह पथ-प्रदर्शक है, इसीलिये इसे नेता या नेत्र कहते हैं। आँख से ही जीवन का सुख है। पर हमारी आँख बहुमूल्य होने पर भी सब चीजें नहीं देख सकती। दूर पर चमकते हुये तारे वस्तुतः कितने बड़े हैं, यह हम आँख से देख कर नहीं बता सकते। इन तारों में है क्या यह भी हम नहीं कह सकते। हम अपनी आँख से अपने मुँह को भी तो नहीं देख सकते। हमारे शरीर की त्वचा में छोटे-छोटे कितने छेद हैं यह भी हमें नहीं दिखाई पड़ता। न हम बहुत दूर की चीज देख पाते हैं, और न बहुत पास की, न हम बहुत छोटी चीजों को ही देख सकते हैं। यही नहीं, हम अपनी आँख से सब रंगों को भी तो नहीं देख सकते। लाल, नारंगी, पीला, हरा, आसमानी, नील और कासनी—इन सात रंगों के अतिरिक्त और भी रंग तो हैं जिनका तरंग-दैर्घ्य लाल से अधिक और कासनी से कम है—ये सब आँखों की दृष्टि से परे है। हमारी आँख को देखने के लिये तेज रोशनी चाहिये— उल्लू, बिल्ली और चमगादड़ बहुत कम रोशनी में भी अपना सब काम कर लेते हैं। इस प्रकार हमारी आँख जीवन के साधारण कार्यों के लिये अच्छी तो है पर इससे सब काम नहीं निकाले जा सकते।

चित्र ६३—माउन्ट विलसन वेधशाला का संसार का सबसे बड़ा दूरदर्शक

विज्ञान के वर्त्तमान युग ने आँख की शक्ति को बहुत कुछ बढ़ा दिया। हमें ऐसे साधन दिये जिनसे हम आँख की बहुत सी दुर्बलताओं को दूर करने में सफल हुये हैं। इस युग की विशेषता है तरह-तरह के त्रिपार्श्वों (प्रिज़्म), लेन्सों और दर्पणों का प्रयोग करना। इन तीनों के सहयोग से इस युग में इतने यन्त्र बनाये गये हैं कि जीवन का कदाचित ही कोई ऐसा अंग पाया जाय जिनमें इनका उपयोग न होता हो। हमारी आँखों की कमी के लिये चश्मा बना जो लेन्सों का योग है। तम्बोली की दूकान पर बड़ा दर्पण लगा पायेंगे। मोटर और सायकिल की रोशनी फेंकने के लिये छोटा-बड़ा लेन्स, सिनेमा घर में तसवीर पर्दे पर फेंकने लिये लेन्स। आँख के अस्पताल में जाइये, या दाँत के अस्पताल में वहाँ भी लेन्स का प्रयोग। चित्र उतारने का कैमेरा तो लेन्स ही है। बाइ-फोकल, दूरबीन, खुर्दबीन (दूरदर्शक और सूक्ष्म दर्शक) ये सब दर्पण और लेन्स के चमत्कार हैं।

समुद्र की तह में पनडुब्बियों में बैठे हुये व्यक्ति को समुद्र के पृष्ठ पर जाने वाले जहाज़ का बराबर पता लगता है। उसका परिस्कोप लेन्स प्रिज़्म और दर्पण के संयोग का कौतूहलपूर्ण उदाहरण है। समुद्र की तह में बैठ कर पास में किल्लोल करते हुये जल-जीवों की फोटो उतारना, अथवा गहरी खानों में बैठ कर वहाँ अपना काम निकालना यह भी लेन्सों का महत्त्व है। संसार की प्रसिद्ध वेधशालाओं में काम आने वाले भीमकाय दूरदर्शक इसी चमत्कार के सुन्दर प्रतीक हैं।

चित्र ६४—प्रकाश सीधी रेखा में चलता है।

भौतिक विज्ञान, रसायन और जीव विज्ञान की प्रयोगशालाओं में काम आने वाले अनेक विशेष यन्त्र लेन्स और प्रिज्मों के संयोग से बनाये गये हैं। काँच के लेन्स, दर्पण और प्रिज्म बनाना इस युग की एक विशेष कला है। यह तो संभव नहीं कि हम यहाँ बहुत से यन्त्रों का उल्लेख करें पर कुछ का विवरण दे कर अवश्य संतोष करेंगे।

प्रकाश की रश्मियाँ

संसार की वस्तुओं का रूप-रंग प्रकाश के कारण है। मुख्यतया यह प्रकाश हमें सूर्य्य से मिलता है। सूर्य्य की किरणें चंद्रमा के पृष्ठ पर से परावर्त्तित हो कर रात को भी हमारे पास आती हैं। तारों में भी अपनी ज्योति है। ये ज्योतिर्मय पिण्ड बराबर प्रकाश की किरणें अपने चारों ओर बिखरते रहते हैं। प्रकाश की किरणें जब और वस्तुओं पर पड़ती हैं, तो वे वस्तुयें भी प्रदीप्त हो जाती हैं, और उनसे भी किरणें चारों ओर को चलती हैं। ये किरणें जब हमारे नेत्रों में पहुँचती हैं, तो हम उन वस्तुओं को देखने लगते हैं। मेज़, कुर्सी, मकान, पेड़ सभी रोशनी में अपने अंगों से किरणें बिखरते हैं। ये किरणें फोटोग्राफी के कैमेरा में हो कर प्लेट पर फोटो बनाती हैं।

चित्र ६५—प्रकाश का दर्पण द्वारा मुड़ना

यह स्मरण रखना चाहिये कि (१) ज्योतिर्मय बिन्दुओं से सभी दिशाओं में किरणें चलती हैं, (२) किरणें एक स्थान से दूसरे स्थान तक सीधी रेखाओं में चलती हैं, (३) किरणों के मार्ग में यदि कोई
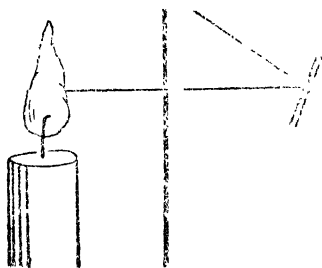
वस्तु आ जाय, जो उन किरणों को आरपार न जाने दे, तो उस वस्तु की छाया बन जायगी, (४) हवा, काँच, पानी आदि कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जिनमें हो कर रश्मियाँ आरपार चली जाती हैं, पर इनमें घुसने पर इनके पहले वाले माग में थोड़ा सा विचलन हो जाता है; अब ये एक नयी सीधी रेखा में चलने लगती हैं। (५) प्रकाश की किरणें दर्पण, पानी की सतह या पॉलिश किये गये किसी भी पृष्ठ पर पड़ने पर पीछे को लौट जाती हैं। ऐसा होने को परावर्त्तन (रिफ्लेक्शन) कहते हैं। जिस कोण पर दर्पण के पृष्ठ पर यह किरण आवेगी, लम्ब के दूसरी ओर उसी कोण पर यह किरण परावर्त्तित होगी। (६) सफ़ेद प्रकाश की किरण सात रंगों के प्रकाश की किरणों का समूह है। सातों रंगों की किरणें पानी, काँच या हवा में एक ही हिसाब से नहीं चलतीं, और इसीलिये त्रिपार्श्वों में से हो कर जाने पर या पानी की गोल बूँदों में से निकलने पर सफ़ेद प्रकाश की किरण अलग-अलग रंगों में बिखर जाती है।
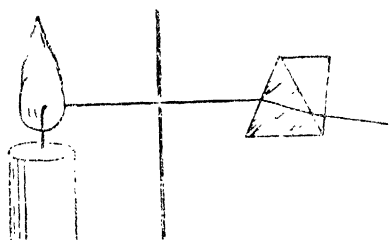
चित्र ६६—प्रकाश का त्रिपार्श्व द्वारा मुड़ना

दर्पण और लेन्स के भेद

दर्पण में आकृति का प्रतिबिम्ब पड़ता है। आगत किरण दर्पण के प्रतिबिम्बक पृष्ठ पर टकरा कर पीछे की ओर लौट जाती है। दर्पण के साधारणतः तीन भेद हैं—(१) सरल दर्पण, जिसमें जितना बड़ा हमारा मुख है उतनी ही बड़ी उसकी आकृति दिखाई पड़ेगी, (२) नतोदर दर्पण (कॉनकेव) जिसका पेट

पीछे की ओर पिचका होता है। इसमें देखने पर हमारा मुख बहुत बड़ा दिखाई पड़ेगा। (३) उन्नतोदर दर्पण (कॉन्वेक्स) जिसका पेट आगे को निकला होता है। इसमें देखने पर हमारा बड़ा मुँह
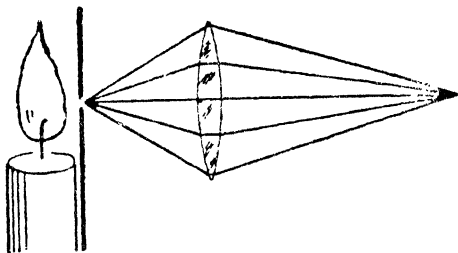
चित्र ६७—लेन्स से प्रकाश—रश्मियों का एकत्रित होना।

भी छोटा दिखाई पड़ेगा। प्रत्येक दर्पण में एक ओर पारा लगा होता है जिसके कारण रोशनी आरपार नहीं जा सकती और पारे के पृष्ठ पर से प्रतिबिम्बित हो जाती है।

लेन्स में किसी पृष्ठ पर पारा नहीं लगा होता। रोशनी इसमें होकर आरपार जा सकती है। किरण हवा में से जब काँच
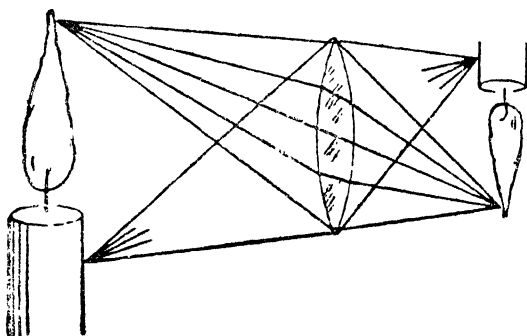
चित्र ६८—लेन्स से चित्र उलटा बनता है।

के लेन्स में घुसती है, तो यह कुछ मुड़ जाती है, और फिर जब

काँच से बाहर निकलती है, दुबारा मुड़ती है। किरण के इस प्रकार के मुड़ने को वर्त्तन कहते हैं। दूसरे पार रक्खी हुई चीजें लेन्स से देखने में कभी छोटी लगती हैं, और कभी बड़ी। छोटा और बड़ा दीखना वर्त्तन के नियमों पर निर्भर है। जिस लेन्स से छोटी चीज़ बड़ी दीखे उसे उन्नतोदर लेन्स (कॉन्वेक्स लेन्स) कहते हैं, और जिस लेन्स से बड़ी चीज़ छोटी दीखे उसे नतोदर लेन्स कहते हैं। इन लेन्सों के पेट भी नतोदर और

चित्र ६९—उन्नतोदर लेन्स

चित्र ७०—उन्नतोदर लेन्स से अक्षर बड़े दिखाई देते हैं।

उन्नतोदर दर्पणों की भाँति पीछे को पिचके या आगे को निकले होते हैं।

दर्पण और लेन्स के पेट कितने पिचके या आगे को निकले हुये हैं इसको बताने के लिये 'फ़ोकल लेन्थ' या नाभ्यन्तर का
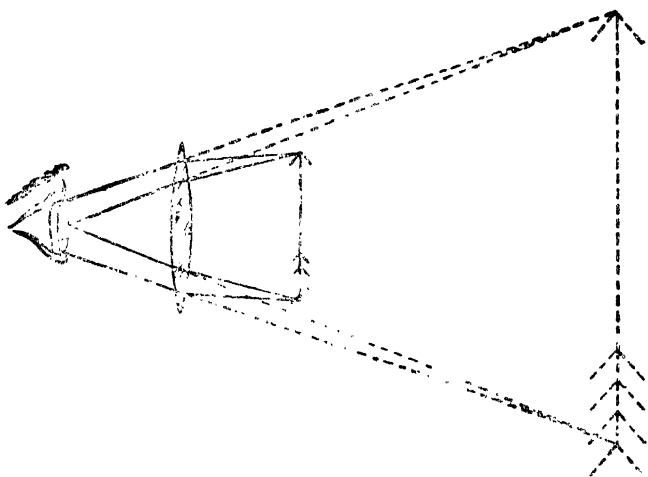
चित्र ७१—उन्नतोदर लेन्स में बिम्ब बहुत बड़ा दिखाई देता है।

व्यवहार किया जाता है। हर एक लेन्स या दर्पण का एक निश्चित नाभ्यन्तर होता है। किसी लेन्स या दर्पण को सूरज की किरणों के सामने ले जाइए। आप देखेंगे कि किरणें दर्पण से प्रतिबिम्बित होकर और लेन्स से वर्त्तित हो कर किसी एक बिन्दु पर इकट्ठी

होगी। अगर कागज़ का टुकड़ा इस विन्दु के पास रक्खा जाय तो यह जलने लगेगा। जलाने के लिये लेन्स या दर्पण से कितनी दूर
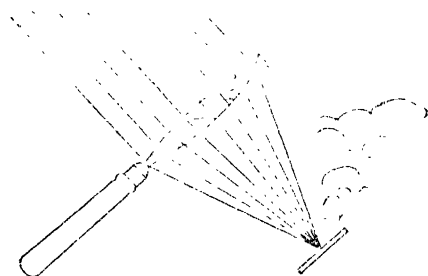
चित्र ७२—लेन्स की नाभि पर संगृहीत सूर्य की किरणें कागज़ जला रही हैं।

पर कागज़ रक्खा जाय, यदि यह नाप लिया जाय तो नाभ्यन्तर मालूम हो जायगा। जिस विन्दु पर कागज़ जल रहा है वह लेन्स की नाभि (फोकस) है। लेन्स या दर्पण में आकृति कितने गुनी बड़ी दिखाई पड़ सकती है, यह उस लेन्स या दर्पण के नाभ्यन्तर पर निर्भर है, और इस बात पर भी कि आपका मुँह दर्पण या लेन्स से कितनी दूर है।

चित्र ७३—नतोदर लेन्स

आपने झाड़ फानूस देखे होंगे। इन पर जब रोशनी पड़ती है तो ये रंग बिरंगे चमकने लगते हैं। इनमें वैसे ही रंग दिखाई पड़ते हैं जैसे इन्द्रधनुष में। झाड़ फानूस के शीशे तिकोने होते हैं। तिकोने या तिपहल शीशों को त्रिपार्श्व या प्रिज़्म कहते हैं। सफ़ेद रोशनी त्रिपार्श्व के एक पार्श्व से घुस कर जब किसी दूसरे

पार्श्व से निकलती है तो यह नीले, हरे, पीले, लाल आदि सात रंगों में विभाजित हो जाती है। सफ़ेद रोशनी सात रंगों से मिल कर बनी होती है, और क्योंकि प्रत्येक रंग का वर्त्तन एक बराबर नहीं होता, इसीलिये त्रिपार्श्व में से निकलने पर रोशनी का हर एक रंग अलग-अलग बिखर जाता है। इसीलिये त्रिपार्श्व से
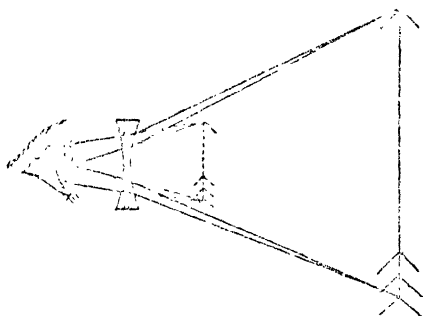
चित्र ७४—नतोदर लेन्स से वस्तु
छोटी दिखाई देती है।

देखने पर पदार्थ रंगीन दिखाई पड़ते हैं। लेन्सों को भी छोटे बड़े अनेक त्रिपार्श्वों का एक समूह समझना चाहिये, और इसीलिये बड़े लेन्सों से निकली हुई रोशनी भी किनारों पर रंगीन प्रतीत होती है। इसे लेन्सों का 'रंगदोष' कहते हैं। कई लेन्सों के संयोग से उनका यह रंगदोष बहुत कुछ कम किया जा सकता है।

फोटोग्राफी में केमेरा

कहा जाता है कि रेखागणित का यूनानी विशेषज्ञ यूक्लिड अपने विद्यार्थियों को एक खेल दिखाया करता था। उसने अपने कमरे की खिड़की में एक छोटा सा छेद कर रक्खा था। दरवाज़े

बन्द कर लेने पर कमरा बिलकुल अंधेरा हो जाता था। खिड़की के छेद के सामने कमरे से बाहर जब कोई विद्यार्थी धूप में निकलता तो छिद्र के सामने की अंधेरी दीवार पर कमरे में प्रतिच्छाया पड़ती। इस प्रतिच्छाया को देख कर लड़के प्रसन्न होते थे। ईसा से ३०० वर्ष पूर्व यूक्लिड ने इस बात का ठीक पता लगा लिया कि यह प्रतिच्छाया क्यों पड़ती है। इस प्रतिच्छाया में कौतूहल तो इस बात का था कि पैर ऊपर होते थे और सिर नीचे। लोगों ने १३ वीं शताब्दी तक इस प्रकार उत्पन्न प्रतिच्छायाओं का महत्त्व न समझा। पर अब इसी सिद्धान्त का उपयोग करके 'केमेरा ऑब्स-क्युरा' (Camera obscura) बनने लगे। ये एक प्रकार के खिलौने थे। तुमने चाय का डिब्बा देखा होगा। इसकी एक दीवार पर सुई से छोटा छेद किया गया, और छेद के ठीक सामने वाली दीवार पर मोमी कागज़ या रेता हुआ धुंधला अंधा शीशा लगा दिया गया (ऐसा शीशा जिसके आरपार न देखा जा सके)। अब यदि इस प्रकार तैयार डिब्बे के छेद को किसी दृश्य के सामने रक्खा जाय तो यह दृश्य धुंधले शीशे पर अंकित हो जायगा। चाय का यह डिब्बा एक प्रकार का केमेरा बन गया। इसमें अंकित चित्र की दो विशेषतायें थीं। एक तो यह चित्र उलटा था–सिर नीचे पैर ऊपर, आकाश नीचे धरती ऊपर। और दूसरी यह कि चित्र अपने मौलिक रंगों में अंकित थे। हरे खेत हरे दिखाई पड़ते थे और नीला आसमान नीला। यह केमेरा ऑब्सक्युरा आजकल के केमेरा से बहुत भिन्न नहीं है। सुई के छेद के स्थान पर
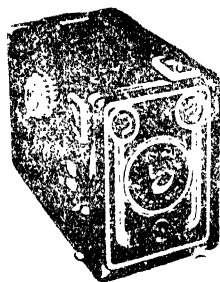
चित्र ७५—सरल कमरा

आधुनिक कैमेरा में लेन्स लगा होता है, और अंधे शीशे के स्थान पर फोटोग्राफ़िक प्लेट या फ़िल्म लगा देते हैं।

कैमेरा में लेन्स लगा कर सफल चित्र अंकित करने की ओर सबसे पहला ध्यान सन् १८२५ में एक अज्ञात व्यक्ति का गया जिसको इतिहास ने वह गौरव अब तक नहीं दिया जिसका वह अधिकारी था। पेरिस में लेन्स का एक व्यापारी शिवेलिये (Chevalier) था। एक दिन वह अपनी दूकान पर खड़ा था कि उसके पास एक दीन हीन निर्धन सा व्यक्ति आया। उस व्यक्ति ने शिवेलिये से लेन्स और कैमेरा ऑब्सक्युरा का मूल्य पूछा। शिवेलिये ने मूल्य बताया। पर यह मूल्य उस निर्धन व्यक्ति की हैसियत से बाहर था। शिवेलिये ने पूछा कि तुम कैमेरा से क्या करोगे। उस निर्धन ने कहा कि मैं कागज़ पर पक्का चित्र उतारूंगा। शिवेलिये को विश्वास न हुआ क्योंकि नीप्से (Niepce) ऐसा योग्य व्यक्ति भी इस काम में असफल रहा था। इतने में ही उस निर्धन व्यक्ति ने अपनी जेब से वे चित्र निकाल कर शिवेलिये के सामने रख दिये जो उसने उतारे थे। सफल फोटोग्राफी का यह पहला इतिहास था।

कैमेरा में लेन्स ही सबसे मूल्यवान चीज़ है जैसे हमारे शरीर में आँख। आँख भी तो एक लेन्स है जो दृष्टि-पट पर बाह्य जगत् के चित्र डाला करती है। शरीर में आँख और दृष्टि-पट दोनों का स्थान निश्चित है। आँख अपने लेन्स का नाभ्यन्तर अपने को सिकोड़ या फैला कर के बाह्य दृश्य के अनुकूल करती रहती है जिससे चित्र सदा दृष्टि पट पर ही पड़े चाहे वह दृश्य समीप का हो या दूर का। कैमेरा के लेन्स का नाभ्यन्तर निश्चित होता है अतः परदे पर चित्र लाने के लिये इसे आगे-पीछे करना पड़ता है। लेन्स को इतना आगे-पीछे करते हैं कि चटक चित्र परदे पर अंकित हो

जाय । लेन्स को इस प्रकार आगे-पीछे हटाना चित्र को 'फोकस' करना कहलाता है ।

लेन्सों की विशेषता यह है कि वे प्रकाश की किरणों का शीघ्र संग्रह कर दें जिससे फोटो ठीक और शीघ्र उतर सके । कैमेरा का मूल्य लेन्स के मूल्य पर ही निर्भर रहता है । अब तो कैमेरा में इतने अच्छे लेन्सों का प्रयोग होने लगा है कि उड़ती चिड़िया का अथवा बन्दूक से छूटी गोली का चित्र शीघ्र उतार लीजिये ।
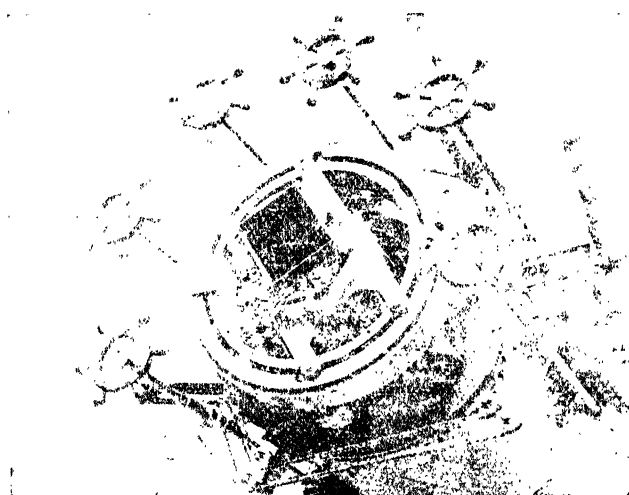
चित्र ७६ – दूरदर्शक का चक्षु खण्ड । इस दूरदर्शक में फोटो लेने का विधान है । (यरकिज वेधशाला)

इन सब लेन्सों का वर्णन यहाँ नहीं दिया जा सकता । हर एक लेन्स का एक नम्बर होता है । जैसे जब हम एफ् ८ लिखें तो इसका अभिप्राय यह होगा कि कैमेरा का छेद (एपरचर) लेन्स के नाभ्यन्तर

का ८ वाँ भाग है। इसी प्रकार एफ् ४५ का अर्थ है कि केमेरा का छेद लेन्स के नाभ्यन्तर का ४५ वाँ भाग है।

केमेरा के लेन्स कई प्रकार के होते हैं—साधारण या मेनिसकस लेन्स—इसमें रंगदोष होता है और केवल स्थिर फोकस वाले केमेरों में इसका व्यवहार होता है। रंगदोष क्यों होता है इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। सन १७५७ में डॉलांड (Dolloud)
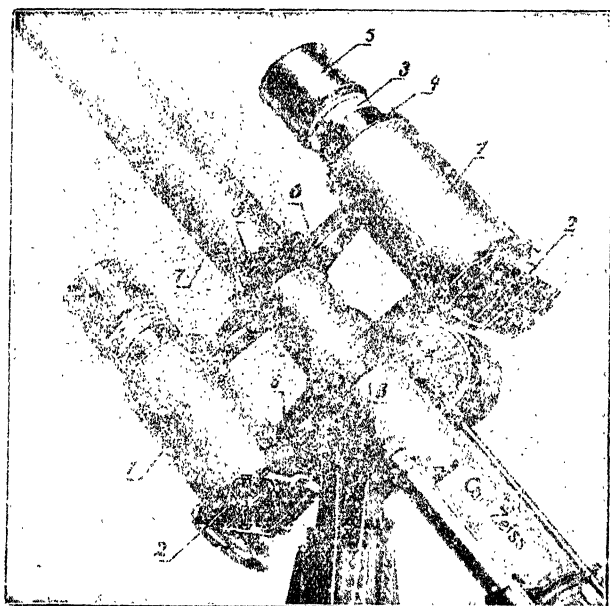
चित्र ७७—नक्षत्र का फोटो लेने वाला केमेरा

नामक एक अँग्रेज प्रकाशवेत्ता ने यह पता लगाया कि यदि दो भिन्न लेन्सों के संयोग से कोई लेन्स तैयार किया जाय तो ऐसा हो सकता है कि रंगदोष मिट जाय। नीली किरणें भी मुड़ कर

उसी जगह आ जायँ जहाँ पीली। एक की कमी दूसरे से पूरी हो जाय। ऐसे संयुक्त लेन्सों को "एक्रोमेटिक" या रंगदोष-रहित लेन्स कहते हैं।

मेनिसकस लेन्स में एक और दोष होता है। चित्र तो चौरस प्लेट पर लेना होता है, पर लेन्स से फोकस करने पर जो प्रतिबिम्ब होता है वह चाय की तश्तरी के समान कुछ गोलाई लिये होता है। इस कारण चित्र का केन्द्र भाग प्लेट पर यदि स्पष्ट फोकस हो गया है, तो चित्र के किनारे फोकस के बाहर पड़ने के कारण धुँधले हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण चित्र बराबर फोकस नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के दोष को 'एस्टिगमैटिक' दोष कहते हैं। इस दोष को दूर करने के लिये भी प्रयत्न किया गया है। कोडक कम्पनी के पेरिस्कोपिक लेन्स में दो लेन्सों का योग किया गया है। एक सामने और एक शटर-डायफ्राम के पीछे। इस प्रकार के लेन्सों को 'एनेस्टिगमेट लेन्स' कहते हैं। सन् १८८१ में एबे (Abbe) और ओटो शॉट (Otto Schott) ने इस प्रकार के लेन्स बनाने में विशेष सफलता प्राप्त की। इन लेन्सों के उपयोग से १/१०० सेकेंड में ही तीव्र गति से चलने वाली चीज का चित्र खींचा जा सकता है।

मैजिक लालटेन

सिनेमा चित्रों के आगे आजकल मैजिक लालटेनों की धूम कम है, पर फिर भी व्याख्यानों को सचित्र करने के लिये मैजिक लालटेन का उपयोग किया जाता है। यह कहना कठिन है कि इसका आविष्कार किसने किया। केमेरा का उलटा मैजिक लालटेन है। इसकी सहायता से प्लेट पर बने हुये छोटे चित्र दूर पर टंगे हुये परदे पर बड़े होकर अंकित होते हैं। मैजिक लालटेन के चार अंग हैं—(१) तेज रोशनी—चाहे कार्बाइड से निकली एसिटिलीन गैस की हो, चाहे बिजली के तेज बल्ब की या कार्बन

आर्क की। (२) यह रोशनी एक कण्डेन्सर द्वारा (जो मोटा लेन्स होता है) पुष्ट की जाती है। (३) पुष्ट रोशनी काँच के प्लेट पर बने हुये चित्र को आलोकित करती है। इस चित्र को स्लाइड कहते हैं। (४) आलोकित चित्र का बिम्ब दूर परदे पर फोकस करने के लिये 'प्रधान लेन्स' जिसे ऑबजेक्टिव कहते हैं।

मैजिक लालटेन का विकसित रूप ही बायस्कोप है जिसमें स्लाइड के स्थान पर फीतेदार फिल्म पर चित्र बने होते हैं। यह फीता यन्त्र द्वारा थोड़ा-थोड़ा खिसकता जाता है, और एक के बाद दूसरे चित्र इस प्रकार शीघ्र परदे पर पड़ते रहते हैं कि चित्र जीते जागते काम करते प्रतीत होते हैं। बायस्कोप के बाद मूक सिनेमा का युग आया, और फिर टॉकी या बोल-चित्र आ गये।

मैजिक लालटेन से वही चित्र परदे पर फेंके जा सकते हैं जिनके स्लाइड बने हों। स्लाइडों में खर्च भी अधिक पड़ता है और सदा सुलभ भी नहीं होते। ऐसी लालटेनें जो किताबों के चित्र सीधे ही परदे पर फेंकती हैं--*एपिस्कोप* या *एपिडायस्कोप* कहलाती हैं। इनके लिये स्लाइड नहीं बनाने पड़ते। मान लीजिये कि किसी पुस्तक में छपा कोई चित्र आपको परदे पर फेंक कर जनता को दिखाना है। पुस्तक को एपिडायस्कोप के नीचे रख दीजिये। इस यंत्र में दायें बायें रोशनी के तेज बल्ब लगे होते हैं जिनसे चित्र आलोकित हो जाता है। इस चित्र से निकली हुई किरणें कण्डेन्सर द्वारा पुष्ट होकर ऊपर निकलती हैं। फिर मुख्य लेन्स (ऑबजेक्टिव) से निकल कर ये एक दर्पण पर पड़ती हैं। दर्पण इन किरणों को बिम्बित कर परदे पर फेंक देता है।

दूरदर्शक या दूरबीन

हमारे यहाँ के प्रसिद्ध ज्योतिषी आर्य्यभट्ट आदि ने आकाश के ग्रहों की विवेचना के लिये कोई दूरदर्शक यन्त्र बनाया था या नहीं, इसका हमें पता नहीं। कहा जाता है कि बेबिलोनिया वाले

भी दूरदर्शक से परिचित थे। रोजर बेकन (१२१४—९४) का कहना था कि जूलियस सीज़र के पास दूरबीन ऐसा कोई यंत्र था
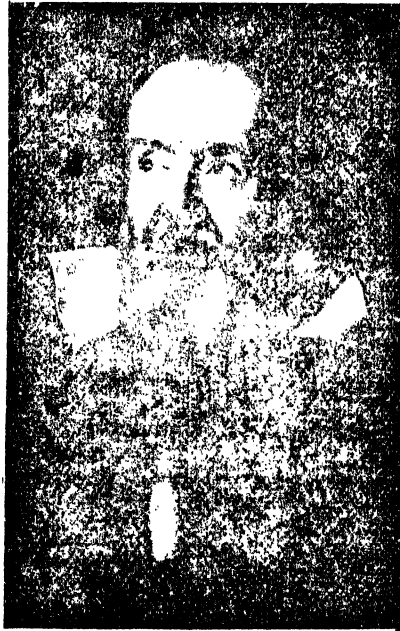
चित्र ७८—गैलीलियो

जिसकी सहायता से उसने आक्रमण करने से पूर्व ब्रिटेन के तटों का निरीक्षण किया। कुछ लोग भूल से यह समझते हैं कि प्रसिद्ध ज्योतिषी गैलीलियो (Galileo) ने सबसे पहले दूरबीन बनायी। यह भी किम्वदन्ती है कि हालैंड देश के एक चश्मा बेचने वाले व्यक्ति हान्स लिपरशे (Hans Lippershey) के यहाँ नियुक्त किसी नौसिखिया लड़के ने सबसे पहले दूरबीन बनायी थी। एक बार लिपरशे कहीं गया हुआ था। उसकी अनुपस्थिति में वह

लड़का लेन्सों से खेलने लगा। उसने एक पर एक इस प्रकार लेन्स रक्खे कि उनसे निकट के गिरजे की चोटी बड़ी दीखने लगी। लिपरशे के लौट आने पर लड़के ने उसे यह कौतूहल दिखाया भी।
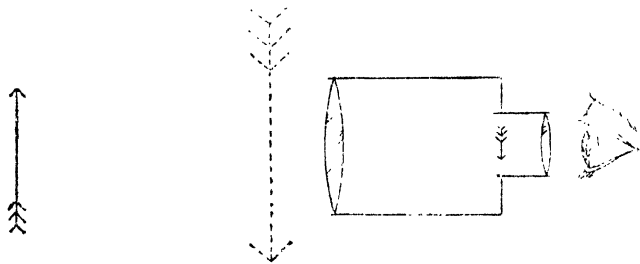
चित्र ७६ – ज्योतिष सम्बन्धी दूरदर्शक की बनावट।
(इसमें वस्तुयें उलटी दिखायी देती हैं)

फलतः लिपरशे ने सन् १६०८ में पहली दूरबीन या दूरदर्शक यंत्र तैयार किया। इसके दूसरे वर्ष ही गैलीलियो को भी इस प्रकार बने दूरदर्शक का समाचार मिला। उसे आकाश के ग्रहों के वेध के लिये दूरदर्शक की आवश्यकता थी। लेन्स के नियमों के आधार पर वह दूरदर्शक स्वयं तैयार करने के लिये तत्पर हो गया। बाद को इसने अपने दूरदर्शक में और भी सुधार किये। अपने इस नये यन्त्र के आधार पर उसने ज्योतिष संबंधी कई प्रसिद्ध अनुसन्धान किये—जैसे सूर्य के कलंक, चन्द्र के पहाड़ तथा जुपिटर के उपग्रह आदि।

गैलीलियो के दूरदर्शक वर्त्तक श्रेणी (रिफ्रेक्टिंग टाइप) के थे अर्थात् इनमें बड़े-बड़े लेन्सों का उपयोग किया गया था, जिन्हें प्रधान लेन्स या ऑबजेक्ट ग्लास कहते हैं जिनमें से प्रकाश की किरणें वर्त्तन-गुणों के कारण मुड़कर निकलती थीं। दूर तारों

से आयी हुई किरणें इन लेन्सों द्वारा वर्त्तित होती थीं, और फिर एक बिन्दु पर इकट्ठी हो जाती थीं। यह बिन्दु तारे का बिम्ब
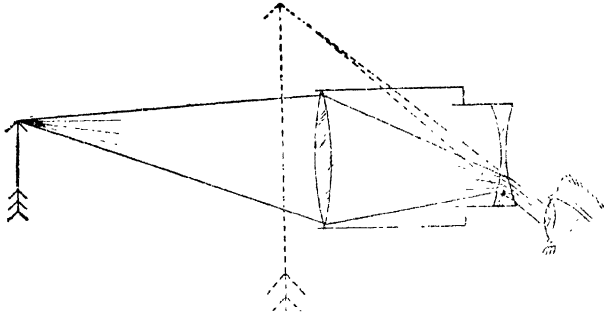
चित्र ८० – गलीलियन दूरदर्शक (इसमें दृश्य सीधा दिखायी देता है)

कहलाता है। इस बिम्ब के पास प्रवर्धक लेन्स (मैग्नीफाइंग लेन्स)—जिनका उपयोग सूक्ष्मदर्शक यंत्रों में किया जाता है—रक्खा जाता था जिससे तारे का यह बिम्ब बहुत बड़ा होकर दीखता था। यह ठीक है कि यह बिम्ब उलटा दीखता था, पर अन्य लेन्सों की सहायता से इसे फिर सीधा कर सकते हैं। प्रधान लेन्स और प्रवर्धक लेन्स, इनकी सहायता से दूर पर स्थित चीजों का स्पष्ट देख लेना आजकल की साधारण घटना है। प्रत्येक दूरदर्शक यंत्र के ये ही दो मुख्य अंग होते हैं।
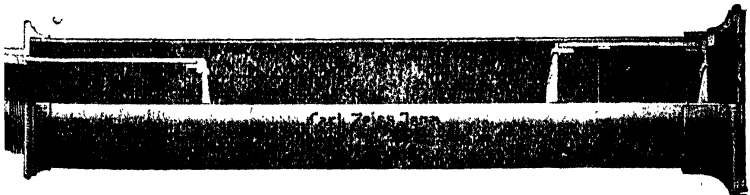
चित्र ८१ – बिम्ब को सीधा करने वाला चक्षुखंड (eyepiece)

गैलीलियो के इस प्रकार बने हुये दूरदर्शक यन्त्र ने ज्योतिष जगत् में ही नहीं, समस्त वैज्ञानिक जगत् में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। मनुष्य को एक दूरदर्शी आँख प्राप्त हो गयी जिससे वह करोड़ों मील पर स्थित ग्रहों को देखने में सफल हुआ। गैलीलियो की मृत्यु के बाद लोगों ने बड़े-बड़े लेन्स बनाने आरम्भ किये, पर ज्यों-ज्यों लेन्स बड़े बनने लगे, उनके उपयोग में नयी-नयी कठिनाइयाँ भी पड़ने लगीं। सबसे बड़ी कठिनाई तो रंग-दोष की थी। वर्त्तन के नियमों के आधार पर बिम्बों के किनारे रंगीन दिखायी पड़ने लगे। बिम्बों की गोलीयता इन लेन्सों का दूसरा दोष था।

चित्र ८२—रंगदोष का फल—बिन्दु की मूर्त्ति बिन्दु भी नहीं बनने पाती
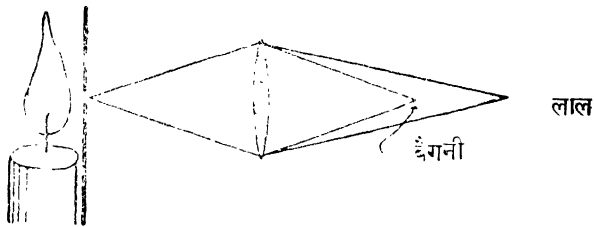
हम केमेरा का उल्लेख करते समय इन दोनों दोषों को बता चुके हैं। हायगन्स (Huygens), बायनचिनी (Bianchini) और कैस्सिनी (Cassini) ने इन दोषों को दूर करने के लिये बहुत बड़े नाभ्यन्तरों के लेन्सों का उपयोग आरम्भ किया, पर इन लेन्सों वाले दूरदर्शक इतने लम्बे हो गये—कभी-कभी १२० फुट लम्बे—कि इनका व्यवहार असम्भव सा प्रतीत हुआ। १८ वीं शताब्दी के बीच में चेस्टर हॉल (Chester M. Hall) ने यह बताया कि कई लेन्सों के संयोग से लेन्सों का रंग-दोष दूर हो सकता है। अतः क्राउन काँच के बने उन्नतोदर लेन्स को फ्लिण्ट

काँच के बने नतोदर लेन्स से संयुक्त कराया गया। ऐसे दूर-दर्शकों को जिनमें इस प्रकार के प्रधान लेन्स लगे थे 'एक्रोमेटिक'—रंगदोष रहित—टेलिस्कोप कहा गया। चेस्टर हॉल ने यह आविष्कार कर तो लिया था, पर उसने इसे प्रकाशित न किया—उसे ख्याति की चिन्ता न थी। अगर वह चाहता तो इसे पेटेंट कराकर धन भी बहुत कमा सकता था। बाद को—जैसा हम कह चुके हैं, १७५८ में डोलौंड (Dollond) ने इस प्रकार के लेन्स बनाने का श्रेय प्राप्त किया। पर इन दिनों ब्रिटिश सरकार ने फ्लिंट काँच पर अत्यधिक कर लगा दिया था, इसलिये रंगदोष रहित लेन्सों का निर्माण आगे न बढ़ सका।

ये वे दिन थे जब कि बिलकुल निर्दोष एकररा फ्लिएट काँच बनाये भी न जा सकते थे—अधिक से अधिक २-३ इंच चौड़े से अधिक नहीं बन सके थे। सन् १७८४ में ग्यूनेंड (P.L. Guinand) ने फ्लिंट काँच के निर्माण का काम आरम्भ किया। सात वर्ष उसने घोर परिश्रम किया। इतने दिनों में वह अति निर्धन हो गया था। अन्त में वह १८ इंच चौड़े फ्लिएट काँच के गोल लेन्स बनाने में सफल हुआ। इतने बड़े लेन्स बनाने का रहस्य उसने केवल अपने पुत्र को सिखाया था जिसने इस कला को उसकी मृत्यु के बाद जीवित रक्खा। पुत्र के बाद यह कला कोइसी-लि-रॉइ (Choisy-le-Roi) के काँच के कारखाने के प्रसिद्ध स्वामी बोनटेम्प्स (G. Bon-temps) के हाथ में आ गयी। सन् १८४८ में फ्रान्स की राज्य-क्रांति के अवसर पर बौनटेम्प्स भाग कर इंगलैंड आ गया। इसने बर्मिंघम में मेसर्स चान्स (Chance) के सहयोग में फ्लिंट काँच के लेन्सों का व्यापार आरम्भ किया। इस फर्म ने तब से आज तक अनेक वेधशालाओं के लिये बड़े-बड़े लेन्स तैयार किये हैं।

चित्र ८३ – रंगदोष रहित लेन्स

विस्कोन्सिन की यर्क्स वेधशाला में ४० इंच का जो दूरदर्शक है उसका लेन्स इस फर्म के बनाये गये लेन्सों में सबसे बड़ा है।

न्यूटन के परावर्त्तक दूरदर्शक

दर्पण पर से रश्मियों का पीछे लौटना परावर्त्तन कहलाता है
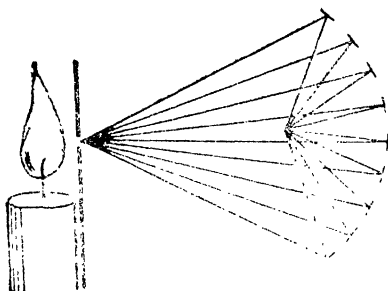
चित्र ८४—कई दर्पणों से प्रकाश की रश्मियों को एकत्रित करना।

प्रकाश के परावर्त्तन नियमों से परिचित व्यक्ति इस बात को जानते हैं कि जब किरण किसी दर्पण पर पड़ती है तो आगत-कोण परावर्त्तक
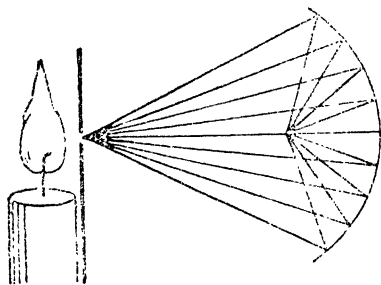
चित्र ८५—गोलाकार दर्पण से बिम्ब कैसे बनता है

कोण के बराबर होता है। अर्थात् जितने झुकाव से किरण दर्पण पर आती है, ठीक उतने ही झुकाव से दूसरी ओर को पीछे हट कर प्रतिबिम्बित होती है। न्यूटन ने इस बात का अनुभव किया कि वर्त्तक दूरदर्शकों में से रंगदोष और गोलीय दोषों का मिटा देना असम्भव है। अतः उसने परावर्त्तक दूरर्शक (रिफ्लेक्टिंग टेलिस्कोप) बनाने का विचार किया। परावर्त्तन के नियमों के अनुसार गोलीय दर्पणों (आतशी शीशों) पर यदि कोई रश्मि समूह आकर पड़े तो परावर्त्तन के बाद ये सब
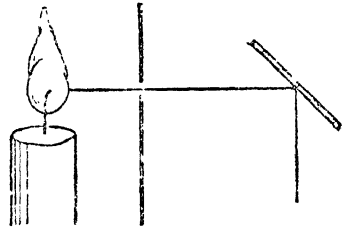
चित्र ८६ – दर्पण से प्रकाशरश्मि अभीष्ट दिशा में मोड़ी जा सकती है।

किरणें किसी एक बिन्दु पर संगृहीत होंगी—इस बिन्दु को नाभिबिन्दु (फोकल पॉयन्ट) कहते हैं। परावर्त्तक दूरदर्शक में एक लम्बी पोली नली होती है जिसके निचले सिरे पर परावर्त्तक दर्पण लगा होता है। दूर से आयी हुई समानान्तर किरणें इस नली के मध्य भाग के निकट परावर्त्तन के बाद संगृहीत होती हैं। इस नाभि-बिन्दु के पास ही न्यूटन ने एक समतल दर्पण
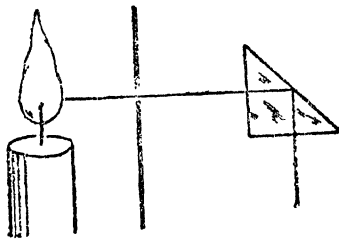
चित्र ८७—त्रिपार्श्व से भी दर्पण का कार्य्य निकलता है।

टेढ़ा करके रक्खा जिससे किरणें परावर्त्तित होकर पार्श्व में लगी नली में चली गयीं। इस नली में चक्षुखण्ड या नेत्र-ताल (आइपीस) लगा दिया गया जिससे बिम्ब बड़ा होकर स्पष्ट दिखायी देने लगा।

न्यूटन ने इस सिद्धान्त के आधार पर सन् १६६८ में अपना पहला दूरदर्शक बनाया। उसने जिस दर्पण का उपयोग किया
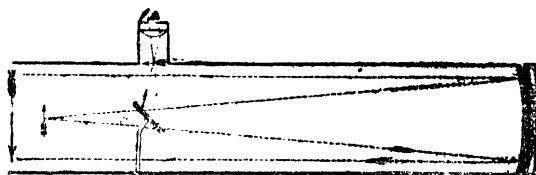
चित्र ८८—न्यूटन के सिद्धान्त पर बना दूरदर्शक

वह केवल १ इंच व्यास का था और वंग और ताँबे की धातु को पालिश करके बनाया गया था। बाद को सन् १७२३ में सेक्सटेंट के आविष्कारक जॉन हेडले (Hadlay) ने एक परिष्कृत परावर्त्तक दूरदर्शक बनाया। इसका दर्पण ६ इंच व्यास का था।

परावर्त्तक दूरदर्शकों ने सर विलियम हरशेल (Herschel) के हाथ में अच्छा सुयश प्राप्त किया और तब इनका महत्त्व बढ़ गया। हरशेल ने इसकी सहायता से यूरेनस ग्रह की खोज की। उनके बनाये हुये सबसे बड़े दूरदर्शक का व्यास ४८ इंच था और इसका नाभ्यन्तर ४० फुट था। इस दर्पण का बनाना कितना कठिन था, इसका अनुमान इस बात से लगेगा कि ४८ इंच व्यास के धातु के बने पत्र में जो गोलाई देनी थी वह केवल १/२५०३३ इंच गहरी थी। इतना सूक्ष्म अन्तर लाना कितना कठिन है, इसकी कल्पना करना भी सरल नहीं।

सन् १८८५ में आयरिश अर्ल ऑव् रोज़ (Earl of Rosse) ने ६ फुट व्यास के दर्पण का उपयोग करके दूरदर्शक तैयार किया। उसे हरशेल की विधि का पता न था, अतः इतने बड़े दर्पण बनाने

में उसे भी मौलिकता का पूर्ण श्रेय मिलना चाहिये। जब दर्पण तैयार हो गया तो उसका भार ४ टन (लगभग ११८ मन) था। इसका नाभ्यन्तर ५४ फुट का था। इतने विशालकाय दर्पण को किस प्रकार दूरदर्शक में लगाया जाय यह भी एक समस्या थी,

चित्र ८६ - विलियम हरशेल

पर किसी तरह इस कठिनायी को पार किया गया। इससे बड़ा परावर्त्तक दूरदर्शक शायद ही और कोई बना हो। इस यंत्र से मन्द ज्योति की नीहारिकाओं के अध्ययन में बड़ी सहायता मिली है।

इस समय तो स्पेकुलम नाम की धातु मिश्र (१ भाग वंग और ४ भाग ताँबा) से दर्पण बनाये गये थे। सन् १८५६ में

स्टाइनहाइल (Steinheil) ने यह विचार प्रस्तुत किया कि एक ओर चाँदी चढ़ा कर काँच के दर्पण क्यों न बनाये जायँ। (चाँदी चढ़ाने का ही लोकप्रिय नाम पारा चढ़ाना है—दर्पण बनाने में पारा नहीं, बल्कि चाँदी चढ़ाते हैं।) चाँदी लगे ये दर्पण धातु पर पालिश किये गये दर्पणों से दुगुने के लगभग अधिक चमक देते हैं। सन् १८७९ में पहली बार बड़ा दर्पण काँच का
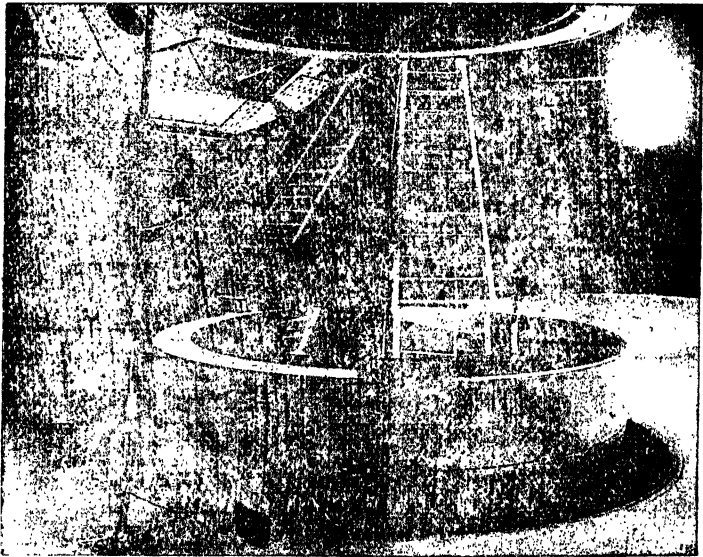
चित्र ९० – दर्पण पर क़लई करना (मौएट विलसन के १०० इंच वाले दूरदर्शक के प्रधान दर्पण पर नई क़लई की गयी है)

तैयार किया गया। इसका व्यास ३६ इंच था। बाद को और भी बड़े दर्पण बनने लगे जिनमें मॉउण्ट विलसन वाला १०० इंच व्यास वाला दर्पण प्रसिद्ध है। यह अभी कुछ वर्ष पूर्व तक संसार

का सबसे बड़ा दर्पण माना जाता था। पर माउण्ट पैलोमर में २०० इंच व्यास का विशालकाय दर्पण १९३६ में बनना आरंभ हुआ और सन् १९३९ में तैयार हो पाया। इसके पृष्ठ तल पर से ४ टन के लगभग खुर्चन निकली, और इसकी यथार्थता एक इंच के १० लाखवाँ भाग तक है। ५५०० फुट ऊंची पहाड़ की चोटी पर कैलिफोर्निया में इसकी स्थापना की गयी।
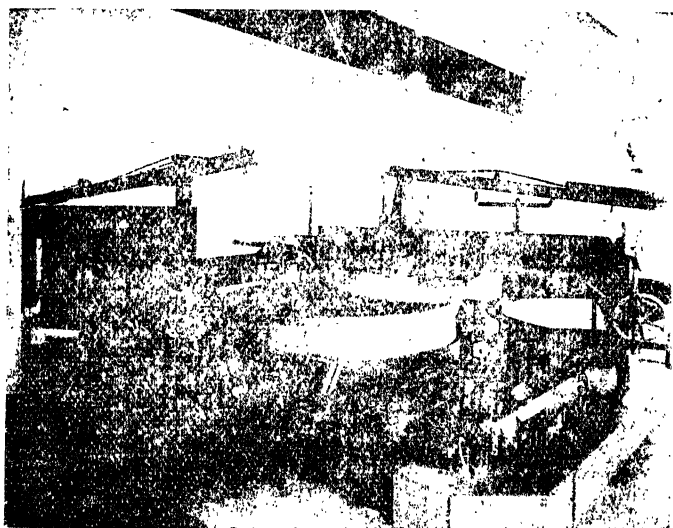
चित्र ६१—१०० इंच वाला नतोदर दर्पण बनाना।

आकाशचुम्बी मकान तो अमरीका में १-२ वर्ष में तैयार हो जाते हैं, पर इतने विशालकाय दूरदर्शक को बनाने में लगभग १२ वर्ष लग जाते हैं। इतने बड़े दर्पण के लिये काँच का तैयार करना भी इस युग का एक चमत्कार है। कुछ दिनों पूर्व १२० इंच व्यास
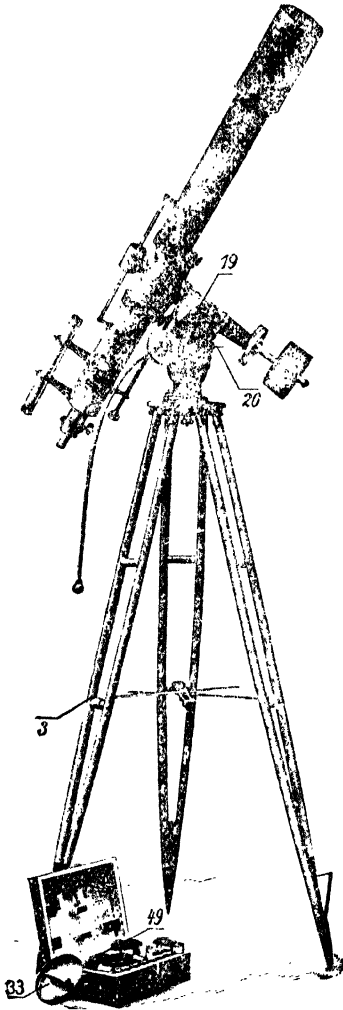
चित्र ६२—नाड़ी मंडल दूरदर्शक

के काँच ढाले जा सके थे। सन् १६३४ में २०० इंच व्यास के काँच का ढालना आरम्भ हुआ। ३० फुट की भट्टी में ३ सप्ताह तक २८००° फ तक के तापक्रम पर काँच गलता रहा। ७ महीने तक फिर इसे धीरे-धीरे ठंढा करके साधारण तापक्रम तक लाया गया (धीरे-धीरे ठंढा करने को एनीलिंग कहते हैं)। एक दम ठंढा करने से तो काँच फट ही जाता। प्रतिदिन १'४° फ तापक्रम कम किया जाता था। काँच के दर्पण की तौल २५ टन (७०० मन के लगभग) थी और मोटाई ३६ इंच। यह पायरेक्स नामक विशेप काँच का बनाया गया जो गरम या ठंढा होने पर अधिक फैलता-सिकुड़ता नहीं है। सन् १६३६ में इसकी घिसाई और पालिश आरम्भ हुई जिसने ४ वर्प लिये।

इस विशालकाय दूर-दर्शक से चन्द्रमा हमारे इतना निकट आ जायगा मानों यह २५ मील की दूरी पर ही स्थित

है। अगर कोई साधारण मोमबत्ती दस हज़ार मील की दूरी पर भी जल रही हो तो उसका पता इस दूरदर्शक से चल जायगा। इससे देखकर इंगलैंड में बैठा हुआ आदमी न्यूयार्क के मकान की मंज़िलें ठीक-ठीक गिन सकता है।

नाड़ीमंडल दूरदर्शक में एक नाड़ीमंडल दर्पण (सोलोस्टेट) होता है। यह दर्पण एक घड़ी के द्वारा धीरे धीरे घूमता रहता है। इस दर्पण की सहायता से चलते हुए तारों की रोशनी बराबर एक स्थान पर स्थिर दूरदर्शक में पहुँचती रहती है।

दूरदर्शकों ने हमें अत्यंत प्रबल आँख प्रदान की है। माउण्ट विलसन का १०० इंच वाला दूरदर्शक हमारी आँख की अपेक्षा २५०००० गुनी देखने की शक्ति रखता है। ज्योतिषियों ने इन दूरबीनों की सहायता से आकाश के ग्रह-उपग्रहों और नयी सृष्टियों एवं अनेक सूर्यों की खोज कर डाली है; और आगे अभी न जाने कितने और आविष्कार होने को हैं।
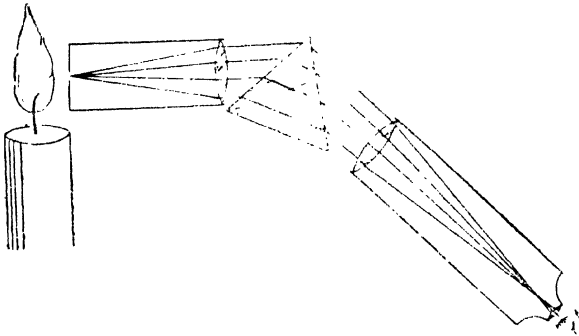
चित्र ९३ – रश्मिचित्रदर्शक यंत्र की बनावट

रश्मिचित्रदर्शकों का आविष्कार

दूरदर्शक की सहायता से तो हम दूर पर स्थित उन तारों और

ग्रहों के देखने में समर्थ हुये हैं जो नंगी आँख से नहीं देखे जा सकते थे, पर उन ग्रहों में कौन सा पदार्थ है जो इस प्रकार की रोशनी दे रहा है, इसका ज्ञान दूरदर्शक से नहीं हो सकता। जिस यंत्र द्वारा हम यह भी जानने में समर्थ हुये हैं कि उन ग्रहों में कौन-कौन तत्त्व हैं, उसे 'रश्मिचित्रदर्शक' या स्पेक्ट्रोस्कोप कहते हैं। त्रिपार्श्व, तिपहल या प्रिज्म का उल्लेख हम आरंभ में कर आये हैं। न्यूटन ने सबसे पहले इसकी व्याख्या की कि इसमें से निकलने पर सफ़ेद रोशनी
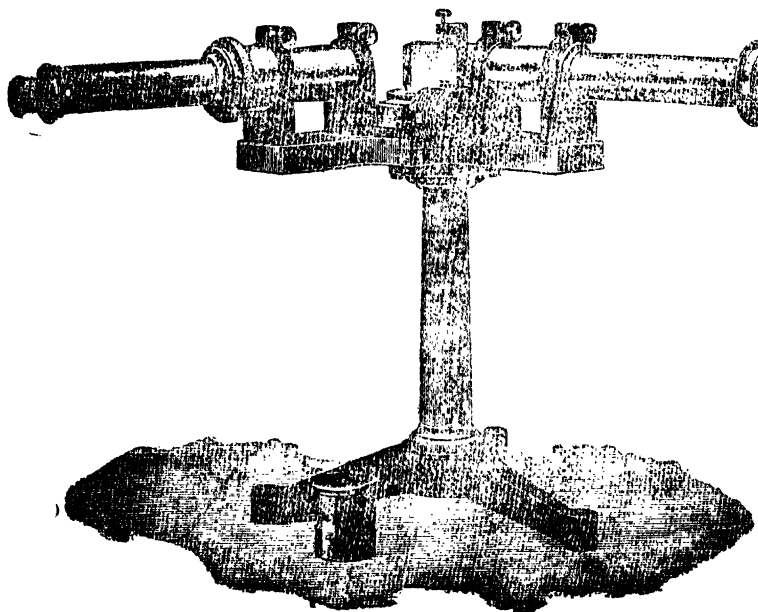
चित्र ६४ – रश्मिचित्रदर्शक यंत्र

क्यों लाल, पीले, हरे, नीले आदि इंद्रधनुष के रंगों की दिखायी पड़ती हैं। प्रिज्म या त्रिपार्श्व से अलग-अलग रंगों की रोशनी अलग-अलग

विश्लेपित हो जाती है। दूर के किसी तारे से आई हुई रोशनी जब प्रिज्म में हो कर जाती है तो कुछ रंगों में विश्लेपित हो जाती है।

अगर किसी ज्वाला में अलग-अलग तरह के लवण डाले जायँ, तो उनके कारण अलग-अलग तरह की रोशनी निकलती है। आतिशबाजी वाले यह जानते हैं कि कौन-कौन से लवण मिला कर रोशनी लाल, हरी, पीली, नीली की जा सकती है। जिस यंत्र से रोशनी का रंगों में अलग-अलग विश्लेषण हो सकता है, वह स्पेक्ट्रोस्कोप या रश्मिचित्रदर्शक है। हर एक लवण ज्वाला में धूमित हो कर अपनी विशेष रोशनी देगा। दूरस्थ ग्रहों की रोशनी का विश्लेषण करके हम जान सकते हैं कि उन ग्रहों में कौन-कौन से तत्त्व विद्यमान हैं। पृथ्वी के अनेक तत्त्व सूर्य में भी हैं जैसा कि सूर्य्य की रोशनी के विश्लेषण से स्पष्ट पता चल सका है जैसे कैलसियम, कार्बन, क्रोमियम, ताँबा, हाइड्रोजन, लोहा, सीसा, मैगनीशियम, निकेल, पोटैसियम, चाँदी, सोडियम, वंग और जस्ता।

कौतूहल की बात है कि सूर्य्यग्रहण के अवसर पर १८६८ में जानसेन (Jansen) नामक एक फ्रान्सीसी ज्योतिषी ने सूर्य के रश्मि-चित्र में एक विशेष रेखा देखी जो किसी ज्ञात तत्त्व की न थी। इस आधार पर उसने सूर्य में एक नये तत्त्व की कल्पना की जिसका नाम 'हीलियम' रक्खा। इस घटना के लगभग २६ वर्ष बाद सर विलियम रैमज़े ने क्लीवाइट नामक खनिज में से निकली गैस की भी स्पेक्ट्रोस्कोप से परीक्षा की और उसे पता चला कि इस में भी वही सूर्य वाली रेखा है। फलतः पृथ्वी पर भी हीलियम के अस्तित्व का पता चला। यह तत्त्व आजकल तो एक परिचित तत्त्व है जिसका अनेक कामों में (जैसे हवाई जहाजों में) उपयोग होता है।

स्पेक्ट्रोस्कोप या रश्मिचित्रदर्शक ने अब तो नये विज्ञान को ही जन्म दे दिया है। ज्ञान-विज्ञान का कोई अंग ऐसा नहीं जिसमें इसका उपयोग न होता हो। इस यंत्र के तीन विशेष अंग होते हैं—
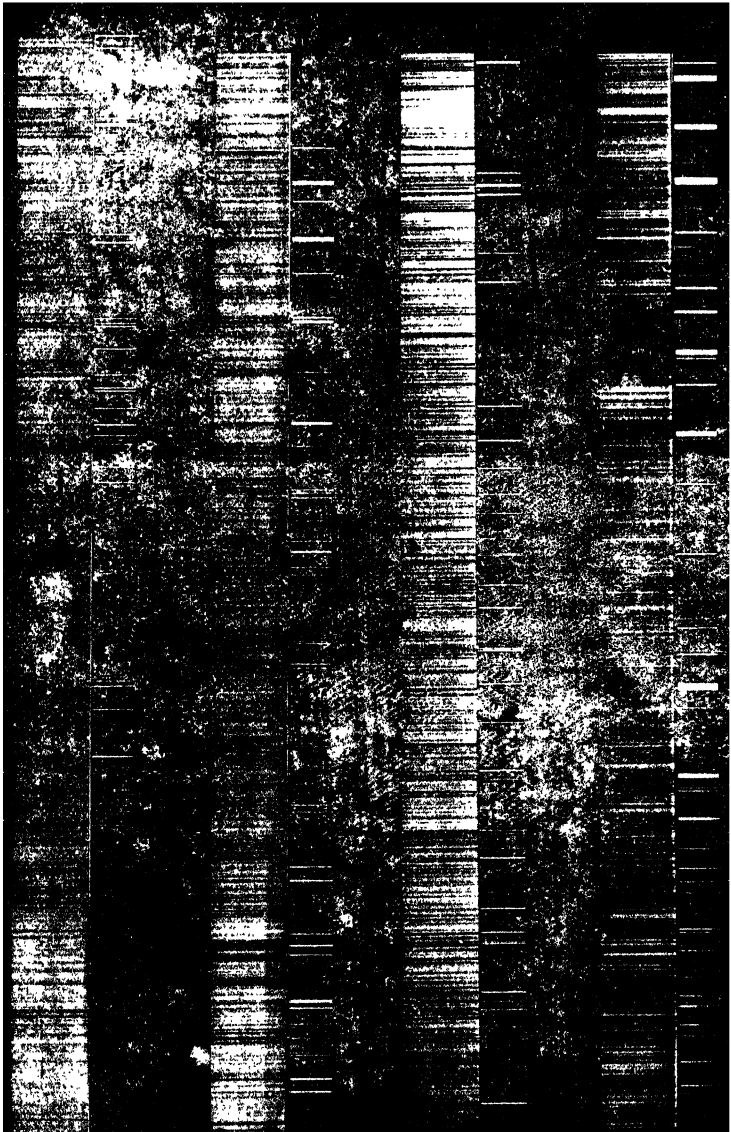
(१) कॉलीमेटर, जिससे किरणें सीधी करके प्रिज्म में भेजी जाती हैं, (२) त्रिपार्श्व या प्रिज्म, जिसमें से निकलते ही किरण अलग-अलग रंगों में विश्लेषित हो जाती हैं. (३) दूरदर्शक जिससे यह विश्लेषित रंग अच्छी तरह देखे जा सकते हैं।

चित्र ६६ – फ्रौनहॉफर

इस यंत्र की सहायता से बुन्सन (१८११ – १८६६) नामक जर्मन वैज्ञानिक ने तत्त्वों के अनुसन्धान की नींव डाली। स्पेक्ट्रम परीक्षण द्वारा उसने रुबियम तत्त्व के लवणों की खोज की। वुलेस्टन (Wollaston) और फ्रौनहॉफर (Fraunhofer) ने सूर्य के रश्मिचित्र में काली रेखाओं का अस्तित्व पहली बार देखा। ये रेखायें फ्रौनहॉफर-रेखायें नाम से प्रसिद्ध हैं। बुन्सन और

करशाफ (Bunsen and Kirchhoff) ने इन रेखाओं का महत्त्व प्रदर्शित किया। १८६१ में सर विलियम क्रूक्स (Crookes) ने स्पेक्ट्रोस्कोप की सहायता से थैलियम तत्त्व का पता लगाया। २० वीं शताब्दी में स्पेक्ट्रोस्कोप की सर्वतोन्मुखी उन्नति हुई। नीलोत्तर (अल्ट्रावायलेट) रंग से लेकर लोहितोत्तर (इनफ्रा रेड) तक के रंगों की परीक्षा तो इनसे की ही गयी, एक्स रश्मि के विश्लेषण में भी इस यंत्र का उपयोग किया गया। एस्टन (Aston) के 'मास-स्पेक्ट्रोग्राफ' ने तत्त्वों के समस्थानिकों (आइसोटोपस) के अन्वेषण में अमूल्य सहायता दी। इस यंत्र का निर्माण १९१९ से पूर्व हुआ और बाद को इसमें बहुत से सुधार किये गये।

अणुवीक्षण यंत्र—माइक्रोस्कोप

दूरदर्शक और रश्मिचित्रदर्शकों के समान ही सूक्ष्मदर्शकों का भी महत्त्व है। दूरदर्शक का काम तो दूर की चीजों को दिखाना है पर खुर्दबीन, माइक्रोस्कोप या अणुवीक्षण यंत्र का काम छोटी से छोटी चीज़ को भी बड़ा करके दिखाना है। यह कहना कठिन है कि सबसे पहला सूक्ष्मदर्शक किसने तैयार किया। कहा जाता है कि पहली शताब्दी में ही रोम के कुप्रसिद्ध राजा नीरो के शिक्षक सेनेका (Seneca) ने यह पता लगाया था कि यदि काँच के गोले में पानी भर लिया जाय तो गोले के दूसरी ओर लिखे हुये अक्षर बड़े दीखने लगते हैं। सन् १२७६ में रोजर बेकन (Roger Bacon) ने यह दिखाया कि मणिभ लेन्सों द्वारा देखने पर छोटे से पदार्थ बड़े दिखायी पड़ते हैं। उसने यह लिखा है कि "इन लेन्सों द्वारा ऐसा यंत्र बनाया जा सकता है जो बुड्ढों के काम का होगा क्योंकि इसकी सहायता से वे छोटे अक्षरों को बड़ा करके पढ़ सकेंगे।" ऐसा विश्वास है कि पहला सूक्ष्मदर्शक १५९० और १६०७ के

बीच में बना, और इसका श्रेय मिडलबर्ग (हालैंड) वासी तीन चश्मा बनाने वालों को मिलना चाहिये— हान्स जानसन (Hans
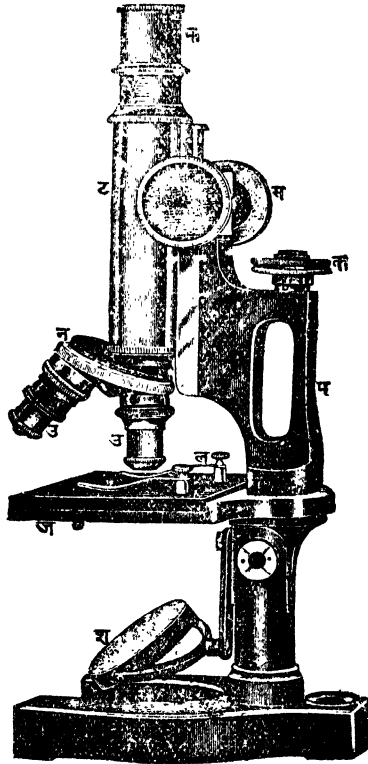
चित्र ६७—माइक्रोस्कोप या अणुवीक्षण यंत्र

Janssen), उसका पुत्र ज़करिया (Zacharias) और हान्स लिपरशे (Lippershey) को।

माइक्रोस्कोप (सूक्ष्मदर्शक) का सर्वप्रथम उचित कार्य में उपयोग

ल्यूवनहॉक (A. van Leeuwenhoek) ने किया। यह दस्तकार था पर विज्ञान में इसकी अभिरुचि विशेष थी। अकस्मात इसे एक लम्बी नली मिल गयी जिसके दोनों सिरों पर लेन्स (ताल) लगे हुए थे—आरंभ में सूक्ष्मदर्शक इसी प्रकार के बनते थे। इनसे देखने पर उसे पता चला कि उड़ती धूल, मिट्टी, पानी सभी में चलते-फिरते छोटे-छोटे जीव विद्यमान हैं। इनका नाम उसने जीवाणु (एनीमैलक्युला) रक्खा। रुधिर में भी इसे चलती फिरती चपटी चकत्तियाँ
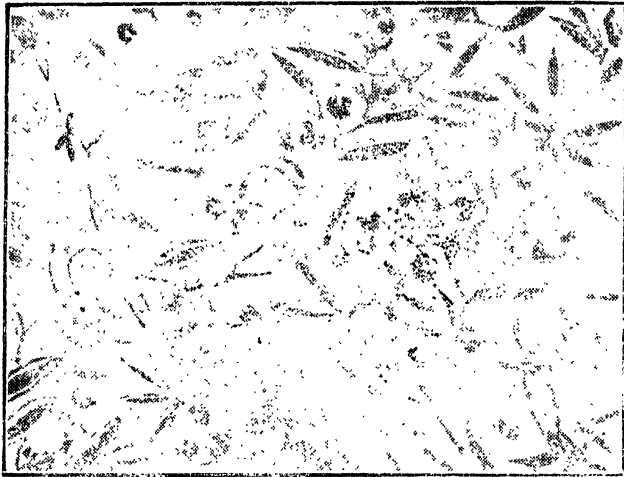
चित्र ६८—गन्दे पानी में अणुवीक्षण यंत्र में देखने से यह दृश्य दिखाई देता है।

दिखाई पड़ीं। मांस में इस यंत्र से छोटे-छोटे कोष्टों का जाल सा दिखायी दिया। उसने अपने चारों ओर एक नयी कौतूहलपूर्ण सृष्टि देखी। वह अपने निरीक्षणों का वृत्तान्त जब अपने पड़ोसियों को सुनाता, तो वे उसे सनकी समझते थे। पर आज हम जानते हैं कि यदि

ल्यूवनहोक न होता तो पास्ट्यूर और लिस्टर भी न होते। सूक्ष्म-दर्शक के उपयोग ने जीवन के रहस्यों को समझने की एक नयी विधि प्रदान की।

हम अपनी आँख से कम से कम कितने निकट की चीज़ देख सकते हैं? यह स्पष्ट है कि स्वच्छ दिखाई पड़ने के लिये यह चीज आँख से कम से कम १० इंच की दूरी पर होनी चाहिये। इस दूरी को "स्वच्छ दृष्टि की सीमा" कहा जाता है। सूक्ष्मदर्शक में लगे लेन्सों से आँख को यह सहायता मिलती है कि इस सीमा से भी कम दूरी पर रक्खे गये पदार्थ आँख के फोकस में आ जाते हैं।
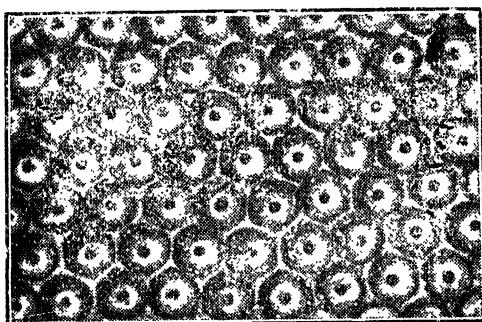
चित्र ६६ - घरेलू मक्खी की असंख्य आँखें,
अणुवीक्षण यंत्र से देखी गयीं

आप ने चश्मे के लेन्स के समान छोटे-छोटे लेन्सों को देखा होगा जिनसे पढ़ने का काम लिया जाता है। ये लेन्स (रीडिंग लेन्स) सबसे सरल सूक्ष्मदर्शक हैं। इनसे देखने पर पास में रक्खी हुई चीज आँख के फोकस पर आ जाती है, और ठीक दिखायी पड़ने लगती है। इस लेन्स द्वारा चीज़ १०-२० गुनी बड़ी होकर दीखती है। इतनी बड़ी दीखने के कारण इस लेन्स से उस

चीज़ के उन सूक्ष्म अंगों को भी देखा जा सकता है जो नंगी आँख से न दिखायी दें। पत्तों, फूलों और त्वचा के छेदों को हम इससे देख सकते हैं।

रीडिंग लेन्स से अधिक से अधिक ८० गुना बड़ा होकर पदार्थ दिखायी पड़ सकता है, पर इस अवस्था में आँख को और पदार्थ को लेन्स के बहुत निकट रखना पड़ेगा। इस प्रकार देखने पर आँख पर ज़ोर बहुत पड़ेगा। लेन्स के रंगदोष और गोलीय दोष भी इस अवस्था में बाधा डालेंगे।

इन बाधाओं को दूर करने के लिये 'कम्पाउण्ड माइक्रोस्कोप' या युग्म-सूक्ष्मदर्शक यंत्रों का आविष्कार किया गया। जैसा नाम से स्पष्ट है इस सूक्ष्मदर्शक में क्राउन-काँच और फ्लिंट काँच से बने लेन्सों के युग्मों (जोड़ों) का प्रयोग किया गया जैसा कि रंग-दोष-रहित दूरदर्शक में किया गया था। माइक्रोस्कोप का मुख्य-लेन्स (ऑबजेक्टिव) फ्लिंट और क्राउन काँच के लेन्सों के युग्म से बना। क्राउन काँच से जो रंगदोष उत्पन्न हुआ था उसे कुछ फ्लिंट काँच ने दूर कर दिया। हरा और पीला रंग जो पहले काँच द्वारा छितर गया था, अब फिर एक स्थान पर आ गया। पर और रंगों में सुधार न हो सका। अब दूसरे प्रकार के काँच बनाये जाने लगे। ज़ाइस (Zeiss), शौट (Schott) और एर्न्स्ट एब्बे (Ernst Abbe) ने कई प्रकार के काँच तैयार किये जिनसे ये दोष बहुत कुछ दूर किये जा सके।

युग्म सूक्ष्मदर्शक में मुख्य लेन्स द्वारा पदार्थ का बड़ा बिम्ब बनता है। इस बिम्ब को नेत्र-लेन्स (आइपीस) द्वारा फिर और बड़ा किया जाता है - बड़े बिम्ब का और भी बड़ा बिम्ब तैयार होता है। मुख्यलेन्स और नेत्रलेन्स के सभी लेन्स क्राउन और फ्लिंट काँच के बने लेन्सों के युग्म होते हैं। कभी कभी मुख्य लेन्स

में कई-कई युग्म लगाये जाते हैं। सूक्ष्मदर्शक पीतल की खोखली नली सा होता है जिसके निचले सिरे पर मुख्य लेन्स लगाया जाता है, और ऊपरी सिरे पर नेत्र-लेन्स। पेंच घुमाने पर यह नली ऊपर-नीचे खिसकायी जा सकती है। नली खिसका कर बिम्ब को फोकस में लाते हैं अर्थात नली तब तक खिसकाते हैं जब तक पदार्थ का बिम्ब चटक और स्पष्ट न दिखायी पड़ने लगे। माइ-क्रोस्कोप में पदार्थ पर रोशनी डालने के लिये दर्पण का भी प्रबन्ध होता है।
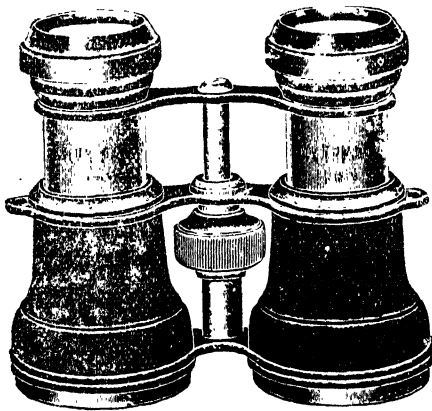
चित्र १०० – बाइनोक्युलर (इससे दूर के दृश्य देखे जा सकते हैं)

इस प्रकार के यन्त्र द्वारा हम [illegible] इंच का सूक्ष्म पदार्थ भी देख सकते हैं। देख ही नहीं सकते, बल्कि माइक्रोस्कोप के नेत्रलेन्स के स्थान पर कैमेरा लगा कर इसकी फोटो भी खींच सकते हैं। इस बीसवीं शताब्दी में माइक्रोस्कोप में बहुत से सुधार हुये हैं। सन १९३४ में सैनडीगो के डॉ० रेमंड राइफ (Raymond Rife) ने ऐसा सूक्ष्मदर्शक तैयार किया जिससे सूक्ष्म पदार्थ

१७००० गुना चौड़ा दिखायी पड़ने लगा। इसकी सहायता से ये स्टेफिलोकोकस के कीटाणुओं को देखने में सफल हो सके। यदि २५००० कीटाणु एक रेखा में रक्खे जायँ तो ये १ इंच जगह लेते थे।

साधारणतया सूक्ष्मदर्शक के भीतर बिम्ब एक आँख से देखा जाता है। पर किसी-किसी में दो नेत्रलेन्स होते हैं जिनसे दोनों आँखों से बिम्ब देखा जा सके। ऐसे यंत्रों को "बाइनोक्युलर" कहते हैं। दूरदर्शक यंत्र में भी दो नेत्रलेन्स लगा कर दूर देखने वाले बाइनोक्युलर भी बनाये गये हैं जिनका उपयोग बहुत से यात्रियों को करते हुये देखा होगा। बाइनोक्युलर और मोनोक्युलर में अन्तर यही है कि पहले में दोनों आँखों से देखने का प्रबन्ध होता है, और दूसरे में केवल एक आँख से। बाइनोक्युलर माइक्रोस्कोप बनाने का श्रेय जर्मनी में लाइट्ज़ कम्पनी को है।

माइक्रोस्कोप से भी विचित्र एक और यंत्र सीडेनटाफ (M. Siedentopf) और ज़िगमॉण्डी (R. Zsigmondy) ने बनाया। इसका नाम अल्ट्रामाइक्रोस्कोप या 'अति सूक्ष्मदर्शक' है। इसके उपयोग से दूध के सूक्ष्म कणों को भी देखा जा सकता है। अंधेरे कमरे में यदि सूराख़ से कोई किरण आ रही हो तो उसके मार्ग में छितरे हुये धूल के कणों को देखा जा सकता है, पर यदि कमरे के दरवाजे खोल दिये जायं और पूरे कमरे में रोशनी आवे, तो ये कण नहीं दिखायी पड़ सकते। बस इसी सिद्धान्त के आधार पर सीडेनटाफ और ज़िगमॉण्डी ने अति-सूक्ष्मदर्शक यंत्र तैयार किये। उसने सूक्ष्म कणों को छोटे से अँधेरे प्रकोष्ठ में एक किरण से आलोकित किया, और फिर चमकते हुये कण को सूक्ष्मदर्शक यंत्र में देखा।

अति-सूक्ष्मदर्शक यंत्र के समान ही महत्त्व का "टेलीविज़न

माइक्रोस्कोप" है जिसका अन्वेषण डा० जोरिकिन (V.K. Zowrykin) ने १९३३ में किया। उनका कहना है कि यद्यपि हमें कोई ऐसी विधि नहीं ज्ञात है जिससे कि मोमबत्ती का प्रकाश कई हजार गुना प्रदीप्त किया जा सके पर हम आसानी से विद्युत की धारा को कई अरब गुना प्रबल कर सकते हैं। उन्होंने अपना माइक्रोस्कोप इसी सिद्धान्त पर बनाया। पदार्थ से निकले हुये प्रकाश की ज्योति को उन्होंने बिजली की तरंगों में परिणत किया। (जैसा टेलीविजन में होता है)। फिर बिजली की तरंग को कई लाख गुना प्रबल किया और बाद को जब ये तरंगे प्रकाश में परिणत की गयीं तो प्रकाश भी कई लाख गुना तीव्र मिला। इस प्रकार के सूक्ष्मदर्शक से अति सूक्ष्म पदार्थ भी बहुत बड़े होकर दीखने लगेंगे, ऐसी आशा है। अभी यह टेलीविजन माइक्रोस्कोप व्यवहार योग्य नहीं बन सका है, पर इसके सफल होने की पूरी आशा है।

८—पानी पर प्रभुत्व

इसका संग्रह और उपयोग

'जीवन' का अर्थ ही पानी है। स्वास्थ्य और स्वच्छता के लिये पानी नितान्त आवश्यक है। यही नहीं, कारखानों के अनेक काम बिना पानी के चल ही नहीं सकते। आजकल की म्युनिसिपैलटियों का यह विशेष कर्त्तव्य हो गया है कि नगरवासियों की सुविधा के लिये पानी का प्रबन्ध करे। एक समय था जब नगरों में कुओं से ही पानी मिलता था। अब भी गावों और छोटे नगरों में कुये ही पानी देते हैं। पर इस युग की चमत्कारित खोजों में यह बात भी विशेषता रखती है कि हम जानें कि बम्बई या कलकत्ता जैसे, अथवा लंडन, पेरिस, बर्लिन और न्ययार्क ऐसे नगरों में पानी की क्या व्यवस्था है। नलों द्वारा घर-घर पानी पहुँचाना इस युग की नयी व्यवस्था है। जो म्युनिसिपैलटियाँ या कारपोरेशन पानी की व्यवस्था करती हैं, उनका उत्तरदायित्व कितना है - ठीक समय पर पानी मिले, उचित मात्रा में पानी मिले, पानी साफ़ हो, और उससे किसी प्रकार के रोग न फैलें। इन चारों बातों के लिये हमें क्या करना पड़ता है, इसका कुछ उल्लेख नीचे किया जायगा। प्रत्येक शहर में उसका पानी-घर या वाटर-वर्क्स एक दर्शनीय स्थान है। एक ओर तो यह आसानी देखिये कि टोंटी खोलते ही पानी मिल जाता है, और दूसरी ओर वे सब चिन्तायें जो इस

पानी की व्यवस्था के लिये करनी पड़ती हैं। किसको कितना पानी मिला, इसका भी तो हिसाब रखना पड़ता है। पानी नापने का मीटर भी कुछ कम कौतूहल का यन्त्र नहीं हैं।

हमारे देश में तालाब बनवाने की पुरानी प्रथा रही है। कहीं-कहीं कुशल शासकों ने जनता के हित के लिये कृत्रिम झीलें भी बनवा दीं। पहाड़ों की खाइयों के खुले स्थानों की ओर बाँध बंधवा कर खाइयों में पानी इकट्ठा करने की प्रथा रोम में बहुत दिनों से चली आ रही थी। इन तालाबों, झीलों या डैमों में वर्षा ऋतु का पानी इकट्ठा रहता था, और शेष ऋतुओं में उसका व्यवहार किया जाता था। समुद्र का पानी भाप बनकर ऊपर उड़ता है और जब बादल बनकर बरसता है, वह अत्यन्त शुद्ध होता है। वर्षा का जल सब से अधिक शुद्ध माना जाता है, पर तुलसीदास के शब्दों में "भूमि पड़त भा डाबर पानी", यह शुद्ध पानी कुछ तो अन्तरिक्ष में बिखरे धूल के कणों से, और पृथ्वी के तल पर के कूड़े कचरे से बहुत कुछ अशुद्ध हो जाता है। अस्तु, 'सिमिट सिमिट जल भरहि तलावा', ये तालाब जल से भर जाते हैं, और उनके पानी का उपयोग सभी जगह किया जाता है।

वर्षा का जल धुलायी के काम के लिये भी सब से अच्छा है क्योंकि इसमें कैलसियम या मैगनीशियम के नमक नहीं होते। जिस पानी में ये नमक रहते हैं, वह साबुन से झाग अच्छी तरह नहीं देता। कारखानों में बड़े-बड़े देगों में (बायलरों में) जब पानी उबाला जाता है, तो उनमें बहुत से पत्र जमा होने लगते हैं, जो पानी में घुले नमकों के कारण पैदा होते हैं। जिस पानी में ये दोष होते हैं उसे कठोर पानी कहते हैं। हमारे अपने कारखानों के लिये मृदु पानी चाहिये जिससे बायलर खराब न हों।

वर्षा का पानी ज़मीन पर गिरता है, तो कुछ तो बह जाता है,

और कुछ को ज़मीन सोख लेती है। यह सोखा गया पानी ज़मीन के नीचे पुख्ता ज़मीन या दृढ़ भूमि तक पहुँचता है, और फिर उस स्तर पर बहने लगता है। कुवें की खोदाई इस स्तर तक ही की जाती है। इस स्तर तक पहुँचने पर पानी का सोता फूट निकलता है। यह पानी ठंढा, स्वच्छ और स्वादिष्ट होता है। कच्चे और पक्के कुओं के बनाने की प्रथा तो पुरानी है, उसका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक नहीं है।

ट्यूब-वेल या नल-कूप

कुओं की प्रथा तो पुरानी है, पर ट्यूब-वेल या नल-कूप इस युग की चीज़ है। धातु के बने नल ज़मीन में बहुत नीचे तक गाड़े जाते हैं। इन नलों के नीचे के सिरे में इस्पात का बना तेज फल लगा होता है। जैसे बरमा को घुमा कर लकड़ी में छेद करते हैं, उसी प्रकार ऊपर से बोझा डाल कर नल को घुमाने से ज़मीन में छेद खुदता जाता है, और नल नीचे घुसता जाता है। साधारणतः ६० फ़ुट नीची गहराई तक नल घुसाया जाता है, और कभी कभी १०० फ़ुट गहराई तक भी। फ़ौजी पड़ावों में इन नल-कूपों का विशेष महत्त्व है। सेना को समय-समय पर स्थान परिवर्त्तन करना पड़ता है, और जहाँ पड़ाव डाला, वहीं ज़मीन में नल गाड़ लिये और पानी मिल गया। कहा जाता है कि अर्जुन ज़मीन के भीतर तीर छोड़ते थे, और वहीं से पानी का सोता फूट निकलता था। वह बात ठीक हो या नहीं, पर आजकल दूर-दूर स्थानों में भी नल-कूपों का तैयार कर लेना सरल बात हो गयी है।

हज़ार-हज़ार फ़ुट गहरे और कभी-कभी इससे भी अधिक गहरे कुये खोदे गये हैं। कठोर शिलाओं में छेद करने वाले यंत्रों में हीरे के दाँते लगे यन्त्रों का उपयोग करना पड़ा है। इन यंत्रों में यह विशेषता होती है कि ये ज़मीन खोदते भी हैं, और खुदा

हुआ मलमा भी ऊपर फेंकते जाते हैं। मलमा को हटाने के लिये कभी-कभी पानी की तेज धार का भी उपयोग किया जाता है।

हमारे देश में दो तरह के ट्यूब-वेलों का प्रचार है। एक तो वे हैं जो घरों में लगे हुये हैं। हाथ से चलाने पर इनमें से पानी निकलता है। जिन शहरों में पानी कम गहराई पर होता है, वहाँ ऐसे नलों का प्रयोग संभव हुआ है जैसे लखनऊ, अलीगढ़ आदि। प्रयाग में ऐसे नल नहीं हैं।

हाँ, बड़े बड़े नगरों में तीन-चार केन्द्रीय स्थानों पर अति गहरे और चौड़े ट्यूब-वेल भी बनाये गये हैं। इनसे मोहल्ले भर में पानी नलों द्वारा पहुँचाया जाता है। बिजली की मोटरों से पानी पम्प करने का काम लिया जाता है। बहुत से लोग अपने घरों के मामूली कुओं में भी बिजली के मोटर लगा लेते हैं। ऐसा करने से नौकर की मेहनत बच जाती है। थोड़े से ही समय में अधिक पानी खींचा जाना संभव होता है, और अगर बिजली सस्ती हो तो कहार रखने की अपेक्षा इसमें व्यय भी कम होता है।

पानी-घर या वाटर-वर्क्स

वर्त्तमान सभ्यता के युग में प्रत्येक बड़े शहर में दो स्थान दर्शनीय हो गये हैं। एक तो बिजलीघर या पॉवर हाउस, जहाँ बिजली तैयार होती है, और दूसरे म्युनिसिपैलटी के पानीघर या वाटर-वर्क्स जहाँ से नलों द्वारा शहर भर में पानी जाता है। किसी नगर में तो नदियों का पानी पम्प करके जलाशयों में इकट्ठा किया जाता है, और कहीं-कहीं पहाड़ियों के बीच में चारों ओर से बाँध लगा कर वर्षा का पानी इकट्ठा करते हैं। कहीं पर झरने या झीलों के पानी का उपयोग करते हैं। अभिप्राय यह है कि जहाँ जैसी सुविधा होती, वैसे ही पानी जलाशयों में इकट्ठा किया जाता है।

यदि नदी का पानी जलाशयों में इकट्ठा करना है, तो उसे छानने की आवश्यकता होती है। छानने का काम बड़े-बड़े हौज़ों में ही किया जाता है। छानने के लिये महीन बालू की २ फुट से लेकर ४ फुट तक की तह काम में लाते हैं। एक हौज़ से दूसरे हौज़ में जाने से पहले पानी को बालू में होकर धीरे-धीरे जाना पड़ता है। इस विधि से पानी का कूड़ा-कचरा अलग हो जाता है। छानने का काम कभी-कभी विशेष यन्त्रों से भी करते हैं।

इस प्रकार छानने पर भी पानी कुछ गँदला रह सकता है; घुली हुई मिट्टी को जल्दी नीचे बिठा देने के लिये फिटकिरी का प्रयोग किया जाता है।

इतने साफ पानी में भी रोग के कीटाणु तो फिर भी बने रहते हैं। वाटरवर्क्स के अधिकारियों का यह विशेष कर्त्तव्य है कि नगर में पानी भेजने से पूर्व इस बात की डाक्टरी करलें कि पानी में रोग फैलाने वाले कीटाणु तो नहीं हैं। इन कीटाणुओं को मारने के लिये क्लोरीन गैस का बहुधा उपयोग किया जाता है। क्लोरीन इतनी मात्रा में छोड़ी जाती है कि रोग के कीड़े मर जावें और पानी का स्वाद भी न बिगड़े।

अगर पानी एक हौज़ से दूसरे हौज़ में तेज़ी से गिराया जाय, तो गिरते समय इसमें हवा घुल जायगी। यह हवा भी पानी के कीटाणुओं को मारने में सहायक होती है। धौंकनी से हवा धौंक कर पानी को खलबला लिया जाय तो उससे भी यही लाभ होगा। बहुत से वाटरवर्क्सों में हवा से खलबलाने का कोई न कोई उचित प्रबन्ध होता ही है। कभी-कभी पानी को ओज़ोन से भी खलबलाते हैं। ओज़ोन भी एक गैस है जिसमें हवा से भी अधिक कीटाणु-नाशक गुण होते हैं।

नीचे बने हुये खुले जलाशयों से पानी पम्प करके बहुत ऊँचाई

पर बनी हुई पानी की टंकियां में भेजा जाता है। ये टंकियाँ इतनी ऊँचाई पर बनी होती हैं, कि इनसे दुमंजिले या तिमंजिले मकानों की छतों पर भी पानी पहुँच जाय। टंकियाँ अधिकतर लोहे की बनी होती हैं, और इन पर रंग किया होता है। बाहर के कूड़ा करकट या धूल से बचाने के लिये इन्हें बन्द रक्खा जाता है।

वाटरवर्क्स से फिर यह पानी किस प्रकार नलों द्वारा नगर भर में जाता है, इसकी व्यवस्था से सब परिचित हैं। अगर आप अपनी कल्पनादृष्टि द्वारा नगर भर में जमीन के भीतर दबे हुये नलों को देख सकें तो आप समझ सकेंगे कि जैसे मकड़ी जाला बुनती है, उसी प्रकार म्यूनिसिपैलिटी ने नगर की जमीन के भीतर नलों का एक जाल बुन दिया है। इन नलों की सफाई रखना, और स्थान-स्थान पर मरम्मत करना, प्रतिदिन की एक साधारण बात हो गयी है। अब आपको उन दिनों की कल्पना करना भी कठिन हो जाता है जब आपके नगर में नल न थे।

अब आपका ध्यान उस छोटी सी घड़ी की ओर भी दिला देना अनावश्यक न होगा जो प्रतिक्षण इस बात को नापती रहती है, कि आपने अपने नल से कितना पानी खर्च कर डाला। इस घड़ी को मीटर कहते हैं। इसके रहते हुये आप पानी की चोरी नहीं कर सकते। घड़ी देख कर आप तत्काल जान जाते हैं कि महीने भर में कितने गैलन पानी आपने खर्च कर डाला। आपके नल की टोंटी में पहुँचने से पहले पानी इस घड़ी में पहुँचता है, और अपने बहाव के साथ घड़ी की सुई को घुमाता रहता है। घड़ी की सुई कितनी घूमी इससे पता चल जाता है, कि कितना पानी खर्च हुआ।

चक्रयंत्र या टरबाइन

अब हम पानी से चलने वाले सुदर्शन चक्रों का वर्णन देंगे। श्रीकृष्ण जी के हाथ का सुदर्शन चक्र किस प्रकार के यन्त्र से घुमाया जाता था, इसका कहीं उल्लेख नहीं है, पर आजकल तो

लगभग सभी कारखानों में अनेक सुदर्शन चक्रों का अनेक प्रकार से व्यवहार होता है। चरखा भी तो हमारे इस युग का सुदर्शन चक्र है; इसे हाथ से घुमाते हैं। मूठ को हाथ से पकड़ कर घुमाया कि चरखा घूमने लगा। यन्त्रों के इस युग में चक्रयन्त्रों को चलाने का काम पानी से, भाप से और बिजली से लेते हैं। इन यन्त्रों को टरबाइन कहते हैं।

मान लीजिये कि पहियेनुमा एक गोल चक्र है और इस चक्र में चारों ओर छोटी-छोटी बालटियाँ लटकी हुई हैं। किसी नल से पानी की तेज़ मोटी धार किसी एक बालटी के मुँह पर पड़ रही है। कुछ क्षण में यह बालटी भर जायगी। पानी भर जाने पर

बालटीनुमा चक्रयन्त्र

बोझीली हो जाने के कारण यह बालटी नीचे खिसक आयगी और पानी की धार के सामने पहली से ऊपर वाली बालटी आ जायगी। यह भी भरने पर नीचे आ जायगी। एक के बाद एक बालटियाँ भरती जायँगी, और नीचे आवेंगी। परिणाम यह होगा कि सारा पहिया घूमने लगेगा। इस पहिये के घूमने पर इसके साथ जुड़े हुये और यन्त्रों को भी हम चला सकेंगे।

पानी से संचालित बालटीनुमा चक्रयन्त्रों का उपयोग तो बहुत दिनों से हो रहा था, पर आजकल के युग में हमने और भी अच्छे चक्रयन्त्रों का आविष्कार किया है। प्रत्येक चक्रयन्त्र के दो अंग होते हैं—नाभिदण्ड और अरा। जिस कीली पर पहिया घूमता है उसे नाभिदण्ड कहते हैं। कीली से जुड़े हुये चारो ओर लगे हुये पहिये के डंडों को अरा कहते हैं। आजकल के चक्रयन्त्रों में ये अरे विशेष ढंग के बनाये जाते हैं। बिजली के पंखों में लगे हुये पंख कुछ गोलाई लिये मुड़े से होते हैं, वैसे ही ये अरा भी होते हैं। पानी की मोटी धार एक अरा पर पड़ती है, और धार के ज़ोर से चक्र घूम जाता है। दूसरा अरा धार के सामने आता है, और

फिर यह भी घूमने लगता है। जितने अधिक अरा होंगे पहिया उतनी ही तेज़ी से घूमने लगेगा। बहती हुई नहरों का पानी अथवा जलप्रपातों का पानी इन चक्रयन्त्रों को चलाने में काम आता है। कहीं-कहीं तो जलाशय ऊँचाई पर बनाये जाते हैं, और उनसे किसी नीचे जलाशय में पानी गिराया जाता है। यह पानी गिरते समय चक्रयन्त्र के अरों पर पड़ता है, और चक्र घूमने लगते हैं।

कुछ चक्रयन्त्रों के अरों के भीतर पानी घुसने और बाहर निकलने का मार्ग बना होता है। पानी की तेज़ धार एक ओर से अरों के भीतर घुसती है, और सब अरों में घूमकर दूसरी ओर से बाहर निकल आती है। पानी के इस बहाव के कारण चक्रयन्त्र घूमने लगता है।

जिन पहाड़ी सोतों में पानी कम होता है, वहाँ कटोरीनुमा पेलटन-चक्र (पेलटन ह्वील) का उपयोग किया जाता है। यह बालटीनुमा चक्रयन्त्र के सिद्धान्त पर बना होता है। पहिये के चारों ओर कटोरियाँ लगी होती हैं। सोते के पानी छोटे से छेद में होकर फौव्वारे के रूप में इन कटोरियों पर पड़ता है। जैसे जैसे कटोरियाँ भरती जाती हैं, चक्र घूमता जाता है।

वाष्पचक्रयन्त्र या स्टीम टरबाइन

आजकल लगभग सभी बड़े कारखानों में मशीनें भाप से चलायी जाती हैं। बड़े-बड़े देगों में जिन्हें बॉयलर कहते हैं, पानी गरम किया जाता है। इस पानी से जो भाप निकलती है, उसका उपयोग यन्त्रों के चलाने में होता है।

लगभग २२०० वर्ष पूर्व हीरो नामक एक यूनानी यन्त्रकार ने वाष्पचक्र का अन्वेषण किया था। उसने एक कड़ाहे में पानी गरम किया। इस कड़ाहे के ऊपर एक खोखला गोला रक्खा था। पोली नली द्वारा कड़ाहे की भाप इस गोले में घुसती थी। गोले के ऊपर

और नीचे मुड़ी हुई दो नलियाँ भाप बाहर निकलने के लिये लगी हुई थीं। भाप गोले में घुसकर जैसे ही बाहर की ओर निकलती थी, उसके बल से गोला नाचने लगता था। हीरो का यह आविष्कार ईसा से पूर्व २०० सन् में हुआ, पर इस वाष्पचक्र का उपयोग कुछ न हो सका।
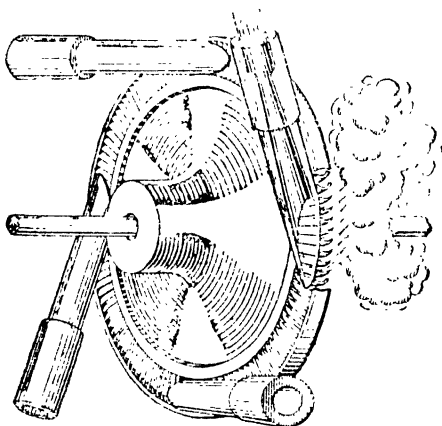
चित्र १०१—डी० लावेल का वाष्पचक्रयंत्र

सन् १६२६ में ब्रैङ्का (Branca) नामक एक इटैलियन ने दूसरी तरह का वाष्पचक्र तैयार किया। नाभिदण्ड पर आश्रित एक पहिये में धातु के चाकूनुमा फल लगा दिये। फिर उसने इन फलों पर एक नल द्वारा भाप का फौव्वारा छोड़ा। भाप की गति के बल से पहिया नाभिदण्ड के चारों ओर घूमने लगा। इस प्रयोग के अनन्तर बहुत से वाष्पचक्र बनाने की समय-समय पर आयोजना की गयी। सैवेरे, न्यूकॉमन, और जेम्स वाट के इंजिनों के आविष्कार ने भाप के एक नये युग का उद्घाटन किया जिसका

उल्लेख हम रेलों के प्रचार के साथ करेंगे ; हमें यहाँ तो केवल वाष्पचक्रों का उल्लेख करना है।

सर चार्ल्स पार्सन्स (Parsons) ने सन् १८८४ में सबसे पहला व्यवहार योग्य वाष्पचक्र तैयार किया। यह वाष्पचक्र साउथ केनसिंगटन के सायंस म्यूजियम में प्रदर्शन के लिये अब तक रक्खा है। यह चक्रयंत्र प्रति मिनट ४८०० चक्कर लगाता था और ६ अश्वबल की इसमें शक्ति थी। पार्सन्स का चक्रयन्त्र ढोल के समान था जिसमें फॉस्फर-ब्रॉञ्ज़ धातु के बहुत से चाकूनुमा फल लगे थे। ये फल समानान्तर इस प्रकार लगाये गये थे, कि एक ओर से अगर भाप इन फलों पर पड़े तो यह ढोल घूमने लगता था। ढोल का घूमना इन फलों के कोणों पर बहुत कुछ अवलम्बित है। यह याद रखना चाहिये कि ये चक्रयन्त्र बड़ी तीव्र गति से चलते हैं, भाप के कारण चाकू के फल गरम भी हो जाते हैं। अगर ये फल ठीक से नियंत्रित न होंगे, तो चक्र को काट डालेंगे। यदि चक्र में कहीं छेद भी हो गया, तो भाप बाहर निकलने लगेगी और चक्र की गति में अन्तर आ जायगा। जो चक्र प्रति मिनट ७५० चक्कर लगाता है, उसके फलों में प्रति सेकेंड १३७८ फुट की गति होती है। पार्सन्स के चक्रयन्त्र में फल १ इंच से लेकर १० इंच लंबे तक होते हैं। छोटे फलों का उपयोग उस स्थान पर होता है जहाँ भाप चक्र में घुसती है, और बड़े फल बाहर जाने के द्वारमार्ग पर लगे होते हैं।
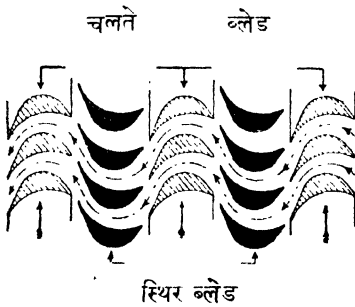
चित्र १०२—पार्सन्स के वाष्पचक्रयंत्र में ब्लेडों का क्रम

जहाजों को चलाने में जिस प्रकार के चक्रयंत्रों का

उपयोग होता है, उनमें कई वाष्पचक्र एक दूसरे से संयुक्त रहते हैं। इस यन्त्र के चक्र प्रति मिनट ३००० या इससे भी अधिक चक्कर लगाते हैं। किसी-किसी काम के लिये इन चक्रयन्त्रों की गति को कम करने की भी आवश्यकता होती है। इस काम के लिये इसमें विशेष 'गेयर' लगे होते हैं। गेयर दाँतेदार पहिये होते हैं। चक्रयन्त्र जब घूमता है, तो इसके साथ सटे हुये दूसरे पहिये के दाँते भी घूमने लगते हैं।

घड़ियों को खोल कर आपने देखा होगा कि सेकेंड के पहिये के साथ मिनट का पहिया, और उसके साथ घंटे का पहिया किस प्रकार दाँतों के सहारे संयुक्त रहता है। गेयरों के प्रयोग से एक स्थान की गति दूसरे स्थान तक कैसे पहुँचती रहती है, यह बात भी स्पष्ट हो गयी होगी। दाँतेदार बेलन या पहिये सभी प्रकार की मशीनों में काम आते हैं। गेयर और उनके साथ घूमने वाले बेलन, और बेलनों पर से होकर जाने वाली पट्टियाँ (बेल्ट), एक स्थान की गति को दूर-दूर तक अंगों तक पहुँचा देती हैं। वाष्पचक्र चलता तो अपने स्थान पर है, पर इसके आश्रय पर १००० फुट की दूरी पर के यन्त्र तक चलने लगते हैं।

वाष्पचक्रों का उपयोग शक्कर तथा कपड़ों आदि सभी प्रकार के कारखानों में किया जाता है। यही नहीं, किसी-किसी नगर में बिजलीघरों में भी इनका उपयोग होता है। अमरीका में अनेक वाष्पचक्रों के संयोग से ३५,००० किलोवाट तक का बल प्राप्त किया जाता है। इतने बल से प्राप्त बिजली से समस्त नगर आलोक से देदीप्यमान रहता है।

———

९—वायु—हमारी नौकरी में

कहा जाता है कि रावण की लंका में अनेक देवता कैदी थे। उनमें से वायु देवता भी एक था। इस बात का चाहे जो भी अभिप्राय हो, यह तो स्पष्ट है कि विज्ञान क वर्त्तमान युग में वायु देवता हमारे अधीन हो गया है, और हम उससे मनमाना काम ले रहे हैं। हवा से हमने बहुत पुराने समय से काम लेना सीखा है। बहती हुई हवा में जो बल होता है, वह आता तो है तापक्रम के अन्तर से। जब किसी स्थल का तापक्रम अधिक होता है, तो वहाँ की हवा गरम होकर ऊपर उठती है, और उसका स्थान लेने के लिये ठंढे स्थल की हवा ज़ोरों से उस ओर बह कर आ जाती है। कभी हवा पानी से ज़मीन की ओर, कभी ज़मीन से पानी की ओर बहती है। नदी के तट पर, और विशेषतः समुद्र के किनारे हम हवा के इस प्रकार के बहाव का प्रतिदिन अनुभव कर सकते हैं। पहाड़ियों के बीच में स्थित घाटियों में भी लगभग इसी प्रकार की तेज़ हवा दिन के किसी न किसी अवसर पर बहा करती है। नाव चलाने वाले जानते हैं कि वे इस हवा से किस समय कैसा काम निकाल सकते हैं। हवा से चलने वाली चक्कियों का प्रचार हमारे देश में तो कम रहा है, पर यूरोप और अमरीका के कई देशों में इसका व्यवहार आज तक होता जा रहा है। डेनिश राज्य ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में प्रोफेसर पॉल ला कूर

(Paul La Cour) को यह काम सौंपा कि वे हवा से चलने वाले इंजिनों की विस्तृत गवेषणा करें। सन १८६१ से अपनी मृत्यु के समय, सन १९०८, तक कूर महोदय ने अपना सारा समय वायु संचालित इंजिनों के अन्वेषण में लगाया।

पुरानी मिलों में हवा से चलने वाले जो पंखे लगे रहते थे, उन्हें समय-समय पर, जैसे-जैसे हवा के बहाव की दिशा बदलती थी, हाथ से घुमाना पड़ता था, पर सन १७५० में एंड्रू माइकल (Andrew Meikle) नामक एक स्कॉटलैंड के निवासी ने इस मिल में सुधार किया, और पंखों और पतवारों की ऐसी व्यवस्था की कि जैसे-जैसे हवा की दिशा बदलती जाय, इनकी स्थिति भी अपने आप बदल जाय। इस प्रकार हवा से चलने वाली ये मिलें अपने आप अपना नियन्त्रण करने लगीं, और इनका प्रचार उतना ही बढ़ गया, जितना कि भाप से चलने वाले इंजिनों का।

उन्नीसवीं शताब्दी में अमरीका में जॉन बर्नहैम ने हवा से चलने वाली 'अमरीकन' मिल बनाई। लोहे और कंकरीट की बहुत ऊँची मीनार बनायी गयी, और उसके सिर पर एक बड़ा पंखा रक्खा गया। पंखे की छोटी-छोटी पतवारें गैलवनाइज़ किये हुए लोहे की थीं। किसी-किसी पंखे में तो सौ के लगभग पतवारें लगायी जाती थीं। पर साधारणतः इन पंखों का व्यास १०-१२ फुट होता है, और इसमें धातु के बने १८-२० पतवार होते हैं। ये सब चक्कियाँ रोलर-बेयरिंग पर आश्रित होती हैं, और इस लिये थोड़े से ही बल से जोरों से घूमने लगती हैं। आर्जेण्टाइन, ऑस्ट्रेलिया और यूरोप के प्रदेशों में कृषि की उन्नति में इस प्रकार की चक्कियों का विशेष हाथ रहा है। इन चक्कियों की सहायता से सिंचाई का काम बड़ी सुलभता से हुआ, और जो प्रदेश प्रायः मरुभूमि थे वे भी इनकी सहायता से हरे-भरे किये जा सके हैं।

हवा से चलने वाली इन चक्कियों से बिजली भी उत्पन्न की जा सकी, और वह किस प्रकार, यह भी जानना मनोरंजक होगा। हवा ने इन चक्कियों को चलाया; इन चक्कियों से पानी पम्प होकर एक बड़े हौज़ में पहुँचा। इस हौज़ के पानी पर प्रति वर्ग इंच ७५ पौंड का दबाव डाला गया। इतने दबाव का पानी जब वाल्व से बाहर निकला, तो उसकी शक्ति से पनचक्की चलने लगी। पनचक्की का संबंध डायनेमो से था, और जैसे ही डायनेमो चला, बिजली पैदा होने लगी। इस बिजली की शक्ति का आदि स्रोत हवा की शक्ति ही थी। ला कूर ने इस प्रकार के अनेक प्रयोग किये।

हवा से चलने वाली इन चक्कियों का प्रचार अनेक देशों में अब लुप्त हो गया है। एलकोहल इंजिन और गैसोलिन इंजिनों के आविष्कार ने इंजिनों के इतिहास में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। जर्मन देश के कुशल रसायनज्ञों ने आलू से एलकोहल तैयार किया, जिससे इंजिनों का सस्ता ईंधन प्राप्त होने लगा। हवा से चलने वाले इंजिनों में यह बड़ा दोष था कि जिस दिन हवा रुक जाती थी, ये इंजिन भी रुक जाते थे। सारा काम बन्द कर देना पड़ता था। हवा की गति को नियंत्रित करने के लिये बिजली के पंखों से भी ला कूर ने सहायता ली। प्रयोग सफल अवश्य हुये, पर इनसे लाभ अधिक नहीं हुआ।

ला कूर की बनायी गयी हवा-चक्कियों में सौरन्सन (Soeren-sen) नामक डेन अन्वेषक ने आवश्यक सुधार किये। इन चक्कियों के पंखों को सीधा नहीं, बल्कि कुछ मुड़ा हुआ बनाया। इसने जो मोटर बनाया उसका नाम 'कौनिकल विंड मोटर' या 'सौरन्सन-मोटर' पड़ा। यह मोटर उतनी हवा से भी चल सकता था जितनी हवा से पेड़ की पत्तियाँ हिलती हुई मालूम हों, और

यदि हवा एक-रस बह रही हो तो फिर इस मोटर से काम बराबर लिया जा सकता है। डेनमार्क और जर्मनी में इस प्रकार के मोटरों का प्रचार बढ़ा। श्लेसविज के नगर विटकाइल में बिजली की रोशनी सड़कों और घरों में इसी प्रकार की हवाई चक्कियों से प्राप्त की जाती है। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि चपटे चौरस पंखों की अपेक्षा मुड़े हुये पंखों में हमें दुगुनी से भी अधिक शक्ति प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार के किये गये सुधारों ने सॉरन्सन का नाम हवाई चक्कियों के इतिहास में अमर कर दिया है। डेनमार्क और उत्तरी जर्मनी के कुछ नगरों और गावों में आज भी हवाई चक्कियों से पानी पम्प किया जाता है, और नगर भर में यह पानी नलों द्वारा घर-घर पहुँचाया जाता है। डेनमार्क की एक हवाई चक्की का चाक ४६ फुट व्यास का है, इसकी धुरी भूमि से ४३ फुट ऊँचाई पर है, इसकी चार पतवारों का क्षेत्रफल ३३६ वर्गफुट है। यदि हवा की गति २२·५ मील प्रति घंटा हो तो इस चक्की से ८·६ अश्व-बल की शक्ति प्राप्त हो सकती है। इन अंकों से अनुमान किया जा सकता है कि ये चक्कियाँ कितनी बड़ी हैं।

डेनमार्क के अनेक कारखाने आज भी हवाई चक्कियों से चल रहे हैं, और वहाँ इन चक्कियों से सस्ते में काम निकल जाता है। यद्यपि हमने अति प्राचीन समय में बहती हुई हवा से काम लेना सीखा था, पर आजकल की नयी मशीनों ने इस हवा को पूरी तरह वश में कर लिया है। ये हवायें चक्कियों के चलाने के लिये बिना वेतन के नौकर रख ली गयी हैं।

जहाजों में बिजली की रोशनी समुद्री हवा से भी कभी-कभी की गयी है। कैप्टेन स्कॉट के स्टीमर 'डिसकवरी' में हवाई चक्की का संबंध एक डायनेमो से था। समुद्री हवा ने हवाई चक्की चलाई, और उसके चलने पर डायनेमो चलने लगा। डायनेमो ने

बिजली पैदा की, और इस बिजली ने जहाज़ के सब लैम्पों को जला दिया।

हवा—हमारी .कैद में

बहती हुई हवा से हमने किस प्रकार नौकरी ली, इसका उल्लेख हम अभी कर आये हैं। इस युग में हम हवा को क़ैद कर सकने में भी सफल हुये हैं—यह क़ैद मामूली नहीं, यह तो सख्त क़ैद है जिसमें क़ैदी को काम भी करना पड़ता है। इस कठोर कारावास में हवा हमारे इतने वश में हो गयी है, कि हम उससे जो चाहें काम निकाल सकते हैं। हवा को आज्ञा दीजिये, वह गाय के थन से दूध दुहने लगेगी। फिर उससे कहिये कि आरे से लकड़ी चीरे—उसे इसमें कोई आपत्ति न होगी। उससे कहिये कि पत्थरों को काटे—यह काम वह जल्दी ही नहीं, बड़ी सफाई से भी करेगी। आपका हुक्म पाकर यह क़ैद हवा रेल के डिब्बे को भी रंगने लगेगी, और अगर आप चाहें, तो रेलगाड़ियों के चलाने का भी काम इससे ले सकते हैं। कमरे में झाड़ू देना तो इसके लिये कोई बड़ा काम नहीं है। शिल्पी के हाथ में जाकर यह बन्दी हवा इतनी सुन्दर मूर्तियाँ गढ़ेगी, कि आपको विस्मय में रह जाना पड़ेगा।

आज से तीन सौ वर्ष पूर्व लोग हवा को निकम्मा समझते थे। उनकी धारणा थी कि हवा में कोई तोल नहीं होती है, और न इसमें कोई भार होता है। पर गैलीलियो ने यह सिद्ध किया कि यदि किसी गोले में पम्प से हवा ठस करके भरी जाय तो उसका बोझ बढ़ जाता है। पर हवा भरने के पम्प का आविष्कार ऑटो गैरिकी (Otto Guericke) ने सन् १६५० में किया, और तब से यह सिद्ध हो गया कि हम किसी भी गोले में ठस हवा भर सकते हैं, और इससे काम निकाल सकते हैं। सायकिल पर चढ़ने वाले

लोग जानते हैं, कि पहिये में भरी हुई ठस हवा के कारण ही वे सायकिल पर चढ़ सकते हैं। ठस भरी हवा के कारण रबर के पहियों में वह बल आ जाता है कि हम अपने पूरे बल से भी उसे पिचका नहीं सकते।

जिस वायुमंडल या वातावरण में हम रहते हैं, उसे हवा का समुद्र समझना चाहिये। हवा पानी से ७७३ गुना हलकी है। हमारी भूमि के पृष्ठ पर प्रति वर्ग इंच १४½ पौंड (लगभग ७ सेर) के लगभग दबाव पड़ रहा है। एक फुट लंबी और एक फुट चौड़ी मेज़ पर २८ मन के लगभग हवा का दबाव है। क्या आप इस बात का कभी अनुभव कर सकते हैं कि कितने मन हवा का बोझा आप अपने कन्धे पर लिये हुये प्रतिदिन घूम रहे हैं। हवा में यदि यह बोझ न होता, तो हमारे शरीर की त्वचा फट जाती, हड्डियाँ बिखर जातीं और हम मर जाते।

संसार में हवा की कोई कमी नहीं है, पर आप जानना चाहेंगे कि हम इस हवा को कैसे क़ैद कर सके। सायकिल के टायर और फुटबाल में जो हवा क़ैद है उससे तो आप परिचित हैं। कुयें में से पानी खींचने वाले पम्प पानी को ३६ फुट ऊँचा तक उठा सकते हैं, और पम्प का यह व्यापार भी हवा का ही एक खेल है। पर आप जानते हैं कि पानी ३६ फुट से अधिक ऊँचा इस प्रकार नहीं चढ़ाया जा सकता है। पर हमारी क़ैद हवा इससे भी ऊपर पानी को उठा सकती है। एक गिलास में ऊपर तक पानी भरें, और इसमें एक पोली नली डाल दें और नली में ऊपर से फूँकें। आप देखेंगे, कि गिलास का पानी बहकर बाहर आ गया है। बस यही बात क़ैद हवा से भी ली जा सकती है। पानी एक चौड़े नल में भरा होता है और उसके भीतर दूसरी नली द्वारा अति दबाव वाली हवा भेजी जाती है। फलतः हवा के दबाव से नली का पानी और ऊपर चढ़ने लगता है।

हाँ, आप यह जानना चाहते हैं कि यह हवा अति दबाव में कैसे रक्खी जाती है। हम इस क़ैद हवा को अब आगे "संकुचित हवा" या कम्प्रेस्ड-एयर कहेंगे। हवा कैसे अति संकुचित रूप में प्राप्त होती है? साधारणतः हवा को ठस भरने के लिये भाप या तेल के इंजिन अथवा बिजली के मोटर काम में लाये जाते हैं। आपने मोटर के टायरों में हवा भरने वाली बिजली की मशीनों को देखा होगा। इनका सिद्धान्त वही है जो सायकिल के पम्प का है। पम्प को हम हाथ से चलाते हैं, पर ये मशीनें बिजली से चलती हैं। वाल्वों का प्रयोग इस युग की बड़ी भारी देन है। आप जानते होंगे कि यदि सायकिल की ट्यूब में वाल्व न हो तो हवा भरना संभव नहीं है। वाल्व पर जब भीतर से दबाव पड़ता है, तो यह फूल जाते हैं, और पम्प से हवा ट्यूब में पहुँच जाती है, पर दबाव उलटी दिशा में होने के कारण ट्यूब की हवा बाहर नहीं निकलने पाती।

मान लीजिये कि लोहे के किसी सिलिंडर में हमने संकुचित हवा अति दबाव पर भर ली। अब आप इसे किसी छोटे से छेद द्वारा निकालिये। आप देखेंगे कि छेद के खुलते ही यह हवा ज़ोरों से निकलेगी। सायकिल ट्यूब के पंक्चर से निकलती हुई हवा के ज़ोर से आप परिचित हैं। हवा के इस ज़ोर से काग़ज़ की फिरकनी नचायी जा सकती है। हाँ, यदि सिलिंडर में दबाव पर हवा भरी हो और उसे नियमित रूप से निकाला जाय, तो आप की मशीनें चलायी जा सकती हैं—ठीक उसी प्रकार जैसे भाप से इंजिन चलते हैं। बड़े-बड़े कारखानों में संकुचित हवा का एक हौज़ होता है, और उससे पूरे कारखानों में नलों का संबंध होता है। जैसे नलों से हम पानी पहुँचाते हैं वैसे ही नलों द्वारा यह संकुचित हवा स्थान-स्थान पर पहुँचाई जाती है। नलों से अपनी-अपनी मशीनों का संयोग करके कारखानों में ये मशीनें तेज़ गति से चलायी जाती हैं।

पम्प से तो हम हौज़ या सिलिंडर में ठस हवा भर ही सकते हैं। पर इससे भी विचित्र विधि यह है, कि यदि कहीं ऊपर से पानी नीचे गिर रहा हो, तो पानी के गिराव के साथ हवा भी संकुचित होती जाती है। जिन देशों में अच्छे जल-प्रपात हैं, वह संकुचित हवा इसी विधि से तैयार करते हैं। जल-प्रपातों का पानी ऊपर से जब नीचे को गिरता है, तो यह साथ में ही हवा को भी नीचे दबा देता है। जल-प्रपातों के पास ऐसे मोटे-मोटे नल लगे होते हैं, जिनमें से होकर यह संकुचित वायु एक ओर को हटती है।

कनाडा में अनेक जल-प्रपात हैं; उनसे संकुचित वायु तैयार करने का काम लिया जाता है। कपड़े के कुछ कारखाने वर्षों से इसी हवा से चलाये जा रहे हैं। लोहे का पाइप जिस पर पानी गिरता है ऊपर ३ फुट ८½ इंच व्यास का है, और इसकी लम्बाई १२८ फुट है। पाइप में २२ फुट नीचे पानी जाता है, और फिर एक मार्ग से निकल जाता है। पाइप में पानी के गिरने पर भीतर की हवा संकुचित हो जाती है।

ब्रिटिश कोलम्बिया की कुछ खानों में खुदाई भी इसी प्रकार प्राप्त संकुचित हवा द्वारा की जाती है। यह ध्यान रखना चाहिये कि जिस जगह पर संकुचित हवा तैयार की जाती है, उसके निकट ही इससे काम ले लेना चाहिये। इस विषय में संकुचित हवा का स्थान भाप और बिजली के बीच का है। भाप तो वहीं की वहीं काम में लायी जाती है, और बिजलीघर से मीलों दूर पर भी बिजली से हम काम ले लेते हैं। संकुचित हवा के रखने के लिये जो सिलिंडर या पाइप होते हैं, वे अति मोटी चद्दर के बने होते हैं, जो हवा के दबाव को सह सकें। इतनी मोटी चद्दर के पाइप मीलों लंबे बनाना भी संभव नहीं है।

एक बात और ध्यान में रखने की है। सायकिल में हवा भरने

वाले जानते हैं कि हवा भरने पर पम्प गरम हो जाता है। अगर हम बहुत अधिक हवा संकुचित करें, तो कितनी गरमी पैदा होगी, इसका अनुमान कठिन नहीं है। इसलिये, यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि संकुचित हवा तैयार करने के लिये कोई ऐसा विधान अवश्य होना चाहिये जिससे हवा ठंढी होती रहे। कभी-कभी यह काम पानी के फौव्वारे से लिया जाता है, और कभी-कभी हवा कई बार में अति दबाव तक पहुँचाई जाती है। संकुचित करने के लिये ३ कम्प्रेसिंग सिलिंडरों का व्यवहार करते हैं। पहले सिलिंडर में कुछ कम दबाव पैदा करते हैं। फिर हवा को ठंढा करने वाली मशीन में ले जाते हैं। यहाँ से फिर यह दूसरे सिलिंडर में और अधिक संकुचित की जाती है। फिर इसे ठंढा करने वाली मशीन में ले जाते हैं, और इसके बाद यह तीसरे सिलिंडर में फिर अधिक संकुचित की जाती है।

संकुचित वायु से सब से पहले बड़ा काम सन् १८६१ में लिया गया। मॉण्ट सेनिस (Cenis) में एक सुरंग बनानी थी। काम बहुत धीरे चल रहा था। चट्टानों को गिराने के लिये उनमें बहुत से छेद करने थे जिनमें बारूद भरी जा सके। छेद करने का काम हाथ से जल्दी नहीं हो रहा था। दिन भर में १½ फुट चट्टान अलग की जा सकती थी। फ्रांस और इटली के बीच में आल्प्स पर्वत को खोद कर रेल की लाइन तैयार करनी थी। जिस गति से काम हो रहा था उसमें ४० वर्ष लगते। इंजीनियर को यह बात सूझ गयी। जलप्रपातों से उसने संकुचित हवा तैयार करने की मशीन संयुक्त कर दी। संकुचित हवा को चट्टान में छेद करने वाली मशीन से पाइप द्वारा संयुक्त कर दिया गया। जहाँ पहले एक दिन में १½ फुट मोटी चट्टान कटती थी, वहाँ अब ४¾ फुट मोटी कटने लगी। कुछ और सुधार करने पर प्रतिदिन ६ फुट कटाई हो गई। ४० वर्ष का काम इस प्रकार, १० वर्ष में ही समाप्त हो गया।

पहले कोयले की खानों में खोदाई का काम भाप की मशीनों से किया जाता था, पर अब संकुचित हवा से संचालित मशीनों से यह काम निकाला जाता है। इस हवा से संचालित कोयला काटने की मशीन ५ सेर ही भारी होती है, पर प्रति मिनट यह २५० चोटें मारती है। मशीन का कटर इस्पात का बना होता है, और इसके साथ जो पिस्टन लगा होता है, उसमें बारी-बारी से ऊपर और नीचे संकुचित वायु पहुँचती है। इस क्रम के कारण पिस्टन ऊपर-नीचे होता रहता है और उसके साथ लगा कटर चोट लगाता है। लगभग इसी सिद्धान्त पर और भी तरह-तरह की मशीनें बनायी गयी हैं। संक्षेप में इतना कह देना काफ़ी होगा कि जो-जो मशीनें बिजली से चलायी जा सकती हैं, वे सभी संकुचित वायु से भी चल सकती हैं। संकुचित हवा से भरे हुये सिलिंडर सस्ते बिकने लगे हैं, और इनका उपयोग छोटे-मोटे अनेक कामों में होने लगा है।

दाँत बनाने वाले लोग की सूक्ष्म हथौड़ी भी संकुचित हवा से अपना काम अच्छी तरह करती है। जहाँ इस हवा से सूक्ष्मयन्त्र चलाये जाते हैं, वहाँ किसी-किसी कारखाने में ४२२½ टन भारी मशीनें भी चलायी जाती हैं। बिजली और संकुचित हवा दोनों का यदि संयोग कर दिया जाय तो फिर इसके बल का ठिकाना ही क्या। केवल हवा से संचालित खराद की मशीन चलाने के लिये यदि ४० अश्वबल की आवश्यकता पड़ती है, तो बिजली और हवा दोनों के संयोग से चलने वाली मशीन में काम ५ अश्वबल से ही चल जाता है।

संकुचित हवा ने पानी में गोताख़ोरों का काम भी सरल कर दिया है। पानी के भीतर नीचे बैठे हुये व्यक्ति को अपनी श्वास के लिये अधिक दबाव वाली हवा चाहिये। वायुमंडल की साधारण

हवा उसके लिये काफ़ी नहीं है। फिर, उसे पानी के भीतर काम करने के लिये भी संकुचित हवा चाहिये। वह अपने हाथ से वहाँ अधिक काम नहीं कर सकता। पानी के भीतर उसके हाथों में बल कम रह जाता है, क्योंकि पानी उसके हाथों की गाँठों पर बाधा डालता है। पानी के भीतर जहाज़ का जो भाग है, मान लीजिये, उसकी मरम्मत करनी है। संकुचित हवा से संचालित यन्त्रों की सहायता से पानी के भीतर ही लोहे की चद्दरों को वह उतनी आसानी से काट-छाँट सकेगा, जितनी से वह लकड़ी के तख्तों को हवा में काटता-छाँटता है।

संकुचित हवा का उपयोग तेज़ चलने वाली गाड़ियों के ब्रेकों में भी किया गया है। अति गति से जाने वाली रेलगाड़ियों में हवा के पम्प करने की एक मशीन लगी होती है। यह मशीन भाप से चलती है। इस मशीन से संकुचित वायु तैयार होती है और पाइपों द्वारा रेल के प्रत्येक डिब्बे के ब्रेक में पहुँचती है। संकुचित हवा द्वारा संचालित ब्रेकों का अन्वेषण पिट्सबर्ग के ज्यॉर्ज वेस्टिंगहौस (George Westinghouse) ने किया था। इससे आज अत्यन्त तेज़ रेलों में निरापद यात्रा करना संभव हुआ है। अगर ऐसी आयोजना न होती तो इन रेलों में प्रतिदिन दुर्घटनायें होती रहतीं।

संकुचित हवा की सहायता से गाड़ियाँ भी चलायी जाती हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्टेशन होते हैं, जहाँ से गाड़ियों के इंजिनों को संकुचित हवा मिलती रहती है, ठीक उसी प्रकार जैसे चौरस्तों पर मोटरों के लिये पेट्रोल की व्यवस्था रहती है।

यह सुन कर कुछ कम आश्चर्य न होगा कि संकुचित हवा से समाचार भेजने का भी काम लिया जाता है। संसार के अति प्रसिद्ध सम्पन्न नगरों में डाक का यह काम उतने ही महत्त्व का है जितना कि तार का। इसे 'न्यूमेटिक मेल सर्विस', 'हवाई डाक', या 'वायु संचालित डाक' कहते हैं। पेरिस में

यह सर्विस तार से सस्ती पड़ती है और लगभग उतने ही शीघ्र समाचार पहुँचा देती है। इनमें एक और विशेषता है। समाचार प्रेषक की अपनी लिखावट में पहुँचते हैं। यदि आप को समाचार भेजना हो तो डाकखाने से एक पतला लेटर कार्ड मोल ले लीजिये। इसे 'पेटिट ब्ल्यू' कहते हैं। इस पर समाचार लिख कर विशेष डिब्बे में छोड़ दीजिये। पोस्टकार्ड रबर से बने एक केरियर में रक्खा जायगा। केरियर के एक मुँह से संकुचित हवा वाली पाइप-ट्यूब लगी होगी, और हवा के ज़ोर से कार्ड ट्यूब के दूसरे सिरे पर पहुँच जायगा। यह दूसरा सिरा दूसरी जगह के पोस्ट आफिस से संयुक्त रहता है। इस प्रकार समाचार एक स्थान से दूसरे स्थान तक फौरन पहुँचा दिये जाते हैं। बड़ी-बड़ी इमारतों में एक कमरे से दूसरे कमरे में समाचार भेजने हों तो भी इसी प्रकार की विधि का अवलम्बन किया जाता है। अमरीका में 'बैटचैलर विधि' निकाली गयी है जिससे बड़े-बड़े पार्सल भी हवा के ज़ोर से मोटे पाइपों में होकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजे जा सके हैं।

अगर इन पाइपों में कोई केरियर कहीं अटक भी गया तो उसका पता लगाना कठिन नहीं है। पिस्तौल से खाली कारतूस ट्यूब के एक सिरे पर दागी जाती है। ट्यूब में ध्वनि अन्दर जाती है, और अटके हुये केरियर से प्रतिध्वनित होकर फिर वापस आती है। कितनी देर में प्रतिध्वनि आयी, इसका हिसाब लगाकर यह पता चल जाता है कि केरियर कहाँ पर अटका हुआ है।

संकुचित हवा के उपयोग इतने अधिक हो रहे हैं कि उनका पूरा उल्लेख देना यहाँ संभव नहीं है। जैसे भाप का युग, बिजली का युग और पेट्रोल का युग आया उसी प्रकार के महत्त्व का युग संकुचित हवा का भी है। हमने हवा को क़ैद किया और फिर उससे मनचाहे काम निकाले।

१०—विविध प्रकार के शीत—बर्फ और द्रव हवा

मनुष्य ने अपने जीवन के आरम्भ में सब से पहला काम गैस का उपयोग करना सीखा। जैसे ही बच्चे का जन्म हुआ, उसने अपने आप साँस लेना आरम्भ किया। साँस से उसने हवा अन्दर खींची, हवा से उसने अपने शरीर के इंजिन को चलाया। भीतर से दूषित गैस उसने प्रतिश्वास द्वारा बाहर निकाल दी। जन्म से लेकर मृत्यु तक हवा का उसने उपयोग किया। हवा एक गैस है जिस पर सब का जीवन निर्भर है। पानी की भाप भी एक गैस है, और हमने यह देख ही लिया है कि भाप के युग ने किस प्रकार एक नयी सभ्यता को जन्म दिया। संकुचित हवा के विस्तृत उपयोगों का भी हम परिचय दे चुके हैं।

गैसों का द्रव करना

पानी गरम करके भाप बनाया जा सकता है और भाप ठंढी होकर फिर पानी बन जाती है। बादलों से वर्षा का होना इसी सिद्धान्त पर निर्भर है। पेट्रोल, एलकोहल, ईथर, बेंज़ीन आदि द्रव पदार्थ गरम करके गैस के रूप में परिणत किये जा सकते हैं, और इनकी गैसों को ठंढा करके फिर द्रव अवस्था प्राप्त हो सकती है। द्रव को गैस और गैस को द्रव में बदल देना एक साधारण

का पानी ठंढा होता जाता है। अगर किसी तरह से भाप बहुत जल्दी-जल्दी बनायी जाय, और बनी हुई भाप शीघ्र पानी के पास से अलग कर दी जाय (जिससे और नई भाप बने) तो पानी इतना ठंढा किया जा सकता है कि वह जमकर बरफ बन जाय।

बहुत दिन हुये, कैरे (Carrè) ने इसी सिद्धान्त के आधार पर बर्फ जमाने की एक मशीन गन्धक के तेज़ाब (सलफ्यूरिक ऐसिड) की सहायता से बनायी थी। पानी की भाप एक वैक्युअम पम्प द्वारा उठायी जाती थी, और मार्ग में हवा के साथ खिंची हुई भाप सलफ्यूरिक ऐसिड द्वारा सोख ली जाती थी। (पम्प द्वारा हवा का दबाव कम कर देने पर पानी शीघ्र भाप बन कर उड़ता है। ज्यों-ज्यों पानी के ऊपर दबाव शून्य के लगभग पहुँचता है, पानी कमरे के तापक्रम पर ही उबलने लगता है। यह सुन कर आपको आश्चर्य होगा कि ठंढा पानी कैसे उबल सकता है, पर बात ऐसी ही है। यदि पानी के ऊपर की हवा पम्प से खींच कर बाहर निकाल दी जाय, तो पानी उबलने लगेगा।) उबलते पानी की भाप सलफ्यूरिक ऐसिड के कारण पानी के ऊपर इकट्ठी नहीं रहने पाती। अच्छा, इस भाप बनने के लिये पानी ने गरमी कहाँ से खींची। अगर भाप शीघ्र हटा देने का प्रबन्ध हो गया है, तो पानी यह गरमी अपने ही भीतर से खींचेगा। धीरे-धीरे पानी इतना ठंढा हो जायगा कि यह जम कर बर्फ बन जायगा।

कैरे ने पहली मशीन के समान एक बर्फ जमाने की अमोनिया मशीन बनायी। द्रव अमोनिया थोड़ा सा दबाव हटाने पर ही गैस बन जाती है, और यह पानी में बड़ी आसानी से घुल जाती है। एक जेनरेटर में अमोनिया का तेज़ घोल लिया जाता है। नीचे बर्नर से गरम करने पर इसमें से अमोनिया गैस

बर्फ़ बनाने की अमोनिया मशीन

उठेगी। यह गैस कुंडलियों में बहती हुई एक कण्डेन्सर में पहुँचती है, जिसमें ठंढा पानी सावधानी से बहता रहता है। यहाँ ठंढी होकर अपने ही द्वारा उत्पन्न किये गये दबाव से यह गैस द्रव अमोनिया बन जायगी। यह द्रव अमोनिया साथ में लगे हुये एक पतले वाल्व द्वारा दूसरी कुंडलियों में जाती है जो रेफ्रिजरेटर में रक्खी हुई हैं। इस रेफ्रिजरेटर में नमक का घोल है। यहाँ पर कुंडलियों में दबाव कम होता है अतः द्रव अमोनिया फिर उबल कर गैस बनने लगेगी। गैस बनने के लिये इसे गरमी चाहिये। यह गरमी यह नमक के घोल से ले लेगी। नमक का घोल इस प्रकार ठंढा पड़ जायगा। घोल का तापक्रम इस विधि द्वारा—१५° श तक पहुँच सकता है। गैस बनी हुई अमोनिया फिर पानी के भीतर बहायी जाती है, जहाँ यह घुल जाती है। अमोनिया और पानी का घोल फिर जेनरेटर में पहुँचा दिया जाता है। इस प्रकार का चक्र बराबर चलता रहता है।

नमक का घोल—१५° श तक ठंढा हो जाता है, और पानी जमाने के लिये हमें ०° श तापक्रम ही चाहिये। इस नमकीन घोल को उन टंकियों के चारो ओर बहाया जाता है जिनमें साफ़ पानी भरा होता है। इन टंकियों में पानी उसी प्रकार जम कर बर्फ़ बन जाता है जैसे कुलफियों में दूध।

बर्फ़ के बड़े-बड़े कारखानों में अमोनिया की इस विधि द्वारा बर्फ़ अधिकतर जमायी जाती है। आपने ठेलों पर लदी हुई बर्फ़ की सफ़ेद सिलें देखी होंगी। कहीं-कहीं तो आपके कमरे से भी अधिक लम्बी चौड़ी सिलें जमायी जाती हैं, और मशीनों द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान तक हटायी जाती हैं। टंकियों में जब बर्फ़ की सिलें जम जाती हैं, तो टंकियों के चारो ओर गरम पानी थोड़ी देर प्रवाहित करते हैं। ऐसा करने से किनारे-किनारे पर बर्फ़ गल जाती है, और फिर सिलें टंकियों में से निकाली जा सकती हैं।

अमोनिया के अतिरिक्त और भी बहुत से तरल पदार्थ हैं जिनका इसी प्रकार बर्फ़ जमाने में उपयोग किया जा सकता है। द्रव कार्बन-डाइ-ऑक्साइड, द्रव सलफ्यूरस एनहाइड्राइड, द्रव हवा, मेथिल या एथिल क्लोराइड आदि शीघ्र उड़ने वाले द्रवों का व्यवहार किया जा सकता है। पर अमोनिया इन सब में सस्ती और सुविधा-जनक है।

आजकल तो सम्पन्न घरों में शीतोत्पादक यंत्र (रेफ्रिजरेटर या फ्रिजिड-एयर) रखने की प्रथा हो गयी है। रसगुल्लों की दूकानों में आपने देखा होगा कि इन शीतोत्पादक यंत्रों में मिठाइयाँ ठंढी करके रक्खी जाती हैं। ठंढी मिठाइयाँ स्वादिष्ट भी अधिक लगती हैं, और बिगड़ने से भी बची रहती हैं। मांस, दूध और फलों को भी बर्फ़ के तापक्रम पर ठंढा रखने की प्रथा है जिससे वे सड़ने न पायें। इन कामों के लिये दूकानों पर रेफ्रिजरेटर काम में आते हैं। इनमें मेथिल क्लोराइड के समान किसी द्रव का उपयोग किया जाता है। ये यंत्र बहुधा बिजली द्वारा संचालित होते हैं। द्रव पदार्थ जब उड़ाया जाता है, तो पास के स्थान से भाप बनने के लिये यह गरमी ले लेता है। इस प्रकार अन्दर ठंढक पैदा हो जाती है। यन्त्र में ऐसा प्रबंध रहता है कि द्रव नष्ट न हो। यह गैस बनता है, और फिर दबाव द्वारा द्रव बनाया जाता है, और यह चक्र बराबर चलता रहता है।

बीज और तरकारियों (जैसे आलू आदि) को सुरक्षित रखने के लिये बड़े-बड़े "शीतगृह" बनाये गये हैं जिन्हें "कोल्ड स्टोरेज" कहते हैं। कानपुर, मेरठ आदि नगरों में आपको ये देखने को मिल जायँगे। लगभग उन्हीं सिद्धान्तों पर जिन पर रेफ्रिजरेटर बनते हैं, इन कोल्ड स्टोरेजों की मशीनें भी बनायी गयी हैं। इनके द्वारा बड़े-बड़े कमरों की हवा ठंढी रक्खी जा सकती है। गरमी की दोपहरी में भी आप किसी "शीतगृह" में पहुँच जाइये जहाँ संभवतः

आलू सुरक्षित रक्खा जा रहा है, आपको ऐसा प्रतीत होगा कि आप मसूरी या शिमला के पहाड़ पर आ गये हैं।

आपने एयर-कंडिशण्ड रेलगाड़ियों के डिब्बे देखे हूंगे। कलकत्ते से बम्बई जाने वाली कुछ खास गाड़ियों में आपको ये मिलेंगे। गरमी के दिनों में इन डिब्बों में भी रेफ्रिजरेटर के समान मशीनें लगा दी जाती हैं, जिनसे भीतर की हवा ठंढी होती रहती है। इन डिब्बों में फस्ट क्लास में चढ़ने वाले अमीर आदमी ही कुछ और किराया दे कर बैठ पाते हैं। इन डिब्बों में बैठे हुये लोगों को न तो धूप की चमक लगती है न लू लग सकती है, और न गाड़ी के चलने के धक्के मालूम होते हैं। भीतर सदा सुहावनी ऋतु बनी रहती है – बाहर चाहे जैसी भी ऋतु क्यों न हो।

हवा कैसे पानी-पानी हो गयी ?

पानी कैसे बर्फ़ बनाया जा सकता है, और बर्फ़ के कारखानों का प्रचार किस प्रकार बढ़ गया इसका थोड़ा सा वृत्तान्त हमने ऊपर दिया है। हम यह भी कह चुके हैं कि बर्फ़ और नमक मिलाकर हम १५ श तक का तापक्रम आसानी से प्राप्त कर सकते हैं, पर इतने तापक्रम पर भी हवा पानी-पानी नहीं हो सकती, चाहे इस पर कितना ही दबाव क्यों न डाला जाय। सन् १८२३ में फैरेडे नामक अँग्रेज़ी रसायनज्ञ केवल दबाव डालकर और नमक मिले बर्फ़ के मिश्रण में रखकर क्लोरीन और इसी प्रकार की कुछ अन्य गैसों को द्रवीभूत कर सका था, पर ऑक्सिजन, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन, कार्बन मोनोक्साइड, मेथेन आदि गैसें ३००० वायु-मंडल के दबाव पर भी द्रवीभूत न हो सकीं और इनका नाम 'स्थायी गैस' रख छोड़ा गया था।

लगभग ४० वर्ष के अनन्तर एण्ड्रूज़ (Andrews) नामक एक वैज्ञानिक ने सन् १८६३ में कुछ ऐसे नियमों का आविष्कार

किया जिन्होंने गैसों के द्रवीकरण की समस्या को सुलझा दिया। उसने यह बतलाया कि हर एक गैस के लिये एक 'चरम' तापक्रम निश्चित है, जिस तक उस गैस को ठंढा किये बिना केवल दबाव डालकर द्रव नहीं बनाया जा सकता। हवा, हाइड्रोजन, ऑक्सिजन आदि गैसें भी तभी द्रवीभूत हो सकेंगी, जब वे अपने-अपने 'चरम' तापक्रम तक ठंढी कर ली जायँगी। पानी की भाप को ही लीजिये। इसका 'चरम' तापक्रम ३७३° है। अगर भाप को इस तापक्रम के ऊपर रक्खा जाय, मान लीजिये कि ४००° पर, तो चाहे कितना ही दबाव क्यों न डालें,—३००० वायुमंडल या इससे भी अधिक--यह द्रवीभूत नहीं हो सकती। कुछ गैसों के चरम तापक्रम नीचे दिये गये हैं—

		मेथेन	–८२·८५°
पानी की भाप	३७४°	कार्बन मोनौक्साइड	—१३८·७°
अमोनिया	१३२·४°	ऑक्सिजन	–११६°
सलफर डाइ-ऑक्साइड	१५७°	नाइट्रोजन	–१४७°
कार्बन डाइ-ऑक्साइड	३१·०°	हाइड्रोजन	–२३६·६°
		हीलियम	–२६८°

कार्बन डाइ-ऑक्साइड को यदि द्रवीभूत करना है, तो इसे पहले इसके तापक्रम ३१° के नीचे तक ठंढा कर लेना चाहिये, और फिर दबाव बढ़ाना चाहिये। हाइड्रोजन, ऑक्सिजन आदि गैसें इसलिये जल्दी द्रवीभूत नहीं की जा सकीं क्योंकि उनके 'चरम' तापक्रम बर्फ़ के तापक्रम से १२०° से लेकर २७०° नीचे तक थे, और हमारे पास पहले ऐसी कोई विधि न थी, कि हम इतने नीचे तक गैसों को ठंढा कर सकते।

यह तो आप जानते ही हैं कि पम्प से जब हवा भरी जाती है,

तो वह गरम हो जाती है—गरमी से पम्प तक गरम हो उठता है।

संकुचित गैस फैलने पर ठंढा हो जाता है।

ठीक इसी प्रकार यदि किसी चीज़ में कोई गैस ऊँचे दबाव पर ठस भरी हो, फिर उसे एक दम किसी छेद से बाहर निकलने दिया जाय तो एक दम बाहर दबाव कम होने पर वह ठंढी पड़ जायगी। बायलर में से गरम भाप जब बाहर निकलती है, तो फैलने के कारण वह ठंढी पड़ जाती है, और द्रव पानी के छोटे-छोटे कण भाप में छितरे हुये दीख पड़ने लगते हैं (भाप आँखों से दिखाई नहीं पड़ती, यह अदृश्य है। पतीली के मुह पर जो धुआँ सा दिखाई पड़ता है, वह भाप नहीं बल्कि द्रव पानी के कण हैं)।

शहरों में कारखानों में कार्बन डाइ-ऑक्साइड से भरे ठस सिलेंडर आते हैं—सोडावाटर के कारखाने में इन्हें आप देख सकते हैं। इनका जब मुँह खोला जाता है तो अन्दर की संकुचित गैस बाहर एकदम निकलते ही फैलने लगती है। फैलने पर यह इतनी ठंढी हो जाती है, कि मुँह के पास न केवल इसके द्रवकणों का कोहरा ऐसा दिखायी पड़ता है, प्रत्युत ठंढी हो कर यह बर्फ़ के समान ठोस जम भी जाती है। इस प्रकार जमी हुई ठोस कार्बन डाइ-ऑक्साइड को 'शुष्क हिम' (ड्राई स्नो) भी कहते हैं-'शुष्क' इसलिये कि यह देखने में तो बर्फ है, पर इसमें पानी का नाम भी नहीं है।

संकुचित गैसों को फैला कर ठंढे करने की विधि का उपयोग कैलेटे (Cailletet) नामक वैज्ञानिक ने सन् १८७७ में ऑक्सिजन के द्रवीभूत करने में किया। उसने एक नली में ३०० वायुमंडल के दबाव पर ऑक्सिजन लिया, और इसे—२९° श तक ठंढा किया। जैसे ही ऑक्सिजन पर से उसने दबाव एकदम हटाया, गैस फैली और इतनी ठण्ढी हो गयी कि द्रव ऑक्सिजन

११—पानी से बिजली

बिजली इस युग का जीवन है। प्रतिदिन के व्यवहार की बात तो छोड़िये, हमारे सभी कारखाने इसी पर निर्भर हैं। हर एक बड़े नगर में बिजलीघर हैं। साधारणतया इन बिजलीघरों में बिजली के चक्रयन्त्र भाप से चलाये जाते हैं। भाप बड़े-बड़े बॉयलरों में पानी गरम करके तैयार की जाती है। पानी गरम करने के लिये कोयले का उपयोग होता है। कोयले के जलने से भाप को शक्ति मिली, भाप से चक्रयन्त्रों को गति प्राप्त हुई। इन चक्रयन्त्रों ने बिजली पैदा करने वाली मशीनों में बिजली पैदा कर दी।

हम कह चुके हैं कि जिस प्रकार भाप से चलने वाले चक्रयन्त्र होते हैं, उसी प्रकार पानी के बहाव से भी चलने वाले चक्र होते हैं। जिन स्थानों पर नहर या जलप्रपातों के रूप में बहते हुये पानी की शक्ति प्राप्त है, वहाँ सस्ते में ये चक्रयन्त्र पानी से ही चलाये जाते हैं। इस प्रकार से प्राप्त बिजली पर ख़र्च कम पड़ता है, क्योंकि असली ख़र्चा तो चक्रयन्त्रों के चलाने का ही है।

आप यह कह सकते हैं कि यदि पानी से चक्रयन्त्र चलाये जा सकते हैं, तो इन चक्रयन्त्रों से ही कारख़ानों की मशीनों को चरखियाँ, बेलन और पट्टियाँ लगाकर क्यों नहीं संयुक्त कर दिया जाता। चक्रयन्त्र से बिजली क्यों बनायी जाय, और बिजली से फिर कारख़ाने की मशीनें चलाई जायँ? पर इसका कारण स्पष्ट है। पानी के बल से चलते हुये चक्रयन्त्रों से कारख़ाने की वे ही

तो मशीनें चलाई जा सकती हैं, जो वहीं पर ५०-१०० गज़ की दूरी पर हों। पर यदि हमें ५—१० मील या इससे भी अधिक दूरी पर अपने कारख़ाने चलाने हों तो हम पानी की इस शक्ति का कैसे उपयोग कर सकते हैं? बिजली में तो यही सुविधा है। हम अपने बिजलीघर से तारों द्वारा कई सौ मील तक बिजली ले जा सकते हैं। और फिर बिजली से हम रोशनी भी तो कर सकते हैं, इसी बिजली से तार और टेलीफोन का काम भी तो ले सकते हैं। यह सुविधा अन्य प्रकार से नहीं प्राप्त हो सकती।

बहता हुआ पानी नलों के द्वारा प्रबल दबाव पर सैकड़ों मील अवश्य पहुँचाया जा सकता है, और इस बहते हुये पानी से छोटे-मोटे काम निकाले जा सकते हैं। वाटरवर्क्स से हमारे घर में जो पानी आ रहा है, वह भी ४-५ मील चलकर आया है, और नल में से काफ़ी ज़ोर से गिरता है। छोटे से चक्रयन्त्र तो इससे भी चलाये जा सकते हैं। मीलों दूर बहने पर भी पानी के बल में कमी नहीं आती, और इस दृष्टि से बहता हुआ पानी भाप की अपेक्षा अधिक अच्छा पड़ता है। भाप नलों में दो-चार मील भी भेजी जाय तो मार्ग में ठंढे पड़ जाने के कारण इसका बल कम हो जाता है। बहते हुये पानी का दबाव बहुत कुछ वैसा ही बना रहता है, जैसा कि वह वहाँ पर था जहाँ से चला। यही कारण है कि गंगा में पानी के बहाव का जो दबाव हरिद्वार या कानपुर में है, वही प्रयाग या बनारस में भी।

नलों में जो बहकर पानी आता है, उससे नगरों में क्रेन या इसी प्रकार की और मशीनें चलायी जा सकती हैं। लंडन में पानी के नलों का (हाइड्रौलिक मेन्स का) १७४ मील का जाल बिछा हुआ है। इन नलों में टेम्स नदी से प्रति सप्ताह २१,६००,००० गैलन पानी ७०० पौंड दबाव प्रति वर्ग इंच पर नगरवासियों

को मिलता है। बहुत से बन्दरगाहों में पानी के दबाव से डॉकों के फाटक खोले या बन्द किये जाते हैं। पर पानी से सीधे काम लेने की अपेक्षा यह अधिक सुगम है कि इससे बिजली तैयार कर ली जाय, और फिर इस बिजली से अपने काम निकाले जायँ।

पानी से बिजली तैयार करने की योजना का नाम हाइड्रो-एलेक्ट्रिक स्कीम है। इस योजना का उपयोग हमारे प्रान्त के उत्तर-पश्चिमी नगरों में विशेष प्रकार से किया गया है। गंगा से निकाली गयी नहरों का एक जाल-सा बिछा दिया गया है और इन नहरों में बहते हुये पानी का उपयोग चक्रयंत्रों के चलाने में किया जा रहा है। इन चक्रयंत्रों को चलाकर बिजली तैयार करते हैं। स्विटज़रलैंड, दक्षिण जर्मनी, फ्रान्स, स्वेडेन, केलिफोर्निया और कनाडा में जल संचालित चक्रयन्त्रों का बड़ा प्रचार है और वहाँ पानी से बिजली सस्ती तैयार की जाती है। सबसे पहले पानी से बिजली तैयार करने का काम सन् १८६३ में स्वेडेन में आरम्भ किया गया। हैल्सजॉन झरनों से पास की लोहे की खानों में १० मील दूर पर बिजली भेजी गयी। इस बिजलीघर में बिजली ४०० अश्वबल की तैयार की गयी। बाद को लगभग सभी देशों में हाइड्रो-एलेट्रिक पॉवर का प्रचार बढ़ने लगा। इस समय नार्वे और स्विट्जरलैंड में सबसे अधिक और विस्मयकारक पानी के बिजलीघर हैं। किन्तु केलिफोर्निया और पैसिफिक सागर के तट पर जितनी बिजली पानी से तैयार की जाती है, उतनी कहीं नहीं। पहाड़ों की चट्टानों से गिरने वाले झरने समस्त तट पर विद्यमान हैं। सृष्टि के आरम्भ से अब तक पानी इन झरनों में व्यर्थ ही बह रहा था, पर आज इस वैज्ञानिक युग में इस बहते हुये पानी से वह काम लिया गया, जिसने सभ्यता के एक नये युग को जन्म दिया। ये झरने आज दिन-रात चक्रयन्त्रों को चला रहे हैं जिनसे बिजली के डायनेमो निरन्तर बिजली पैदा कर

रहे हैं। २००-२५० मील की दूरी पर इन बिजलीघरों से १ लाख वोल्ट तक की बिजली भेजा जाना आज संभव हो सका है।

आजकल नेयाग्रा नदी से अमरीका में १५० मील तक ६०,००० वोल्ट की बिजली भेजी जाती है। रायोडिजेनीरो में १० लाख नगरवासियों को ५० मील दूरी से ५४००० अश्वबल की बिजली ८८,००० वोल्ट पर मिलती है। बिजलीघर में ६ चक्रयन्त्र पानी से काम करते हैं। यह पानी १७ मील लम्बे जलाशय में जिसमें ७८४०० लाख घनफुट पानी जा सकता है, संग्रह किया गया है। फ्रान्स में माण्टियर से लायन्स तक ११२ मील के लगभग ६३०० अश्वबल की बिजली इसी प्रकार तैयार करके भेजी जा रही है। स्पेन के अनेक नगरों में भी पानी से बिजली बनायी जाती है। इस प्रकार तैयार बिजली से न केवल ट्रैम गाड़ियाँ ही चलायी जाती हैं, प्रत्युत रेलगाड़ियाँ भी चलती हैं। हमारे देश में बम्बई और पूना के बीच में बिजली से चलने वाली रेलगाड़ियाँ शायद आपने देखी हों।

१२—एक्स-रश्मि या दिव्यचक्षु

बहुत कम आविष्कार ऐसे हैं जो शीघ्र ही इतने लोक-प्रिय हो जाते हैं जितना कि एक्स-रश्मियाँ। सन् १८९५ में रॉञ्जन (Röntzen) नामक एक वैज्ञानिक ने इन किरणों का आविष्कार किया—आविष्कार की कहानी में एक चमत्कार था, जिसने सुना उसने आश्चर्य किया, और इस आविष्कार द्वारा उसके आविष्कर्त्ता रॉञ्जन को तो अमरत्व प्राप्त ही हुआ, समस्त मानव समाज ने इस आविष्कार को अपना गौरव समझा। इस आविष्कार से अन्धे मनुष्य को नयी आँखें मिल गयीं। वैज्ञानिकों को प्रकृति के परीक्षण का एक नया साधन मिला, और चिकित्सकों ने इसके आधार पर अपनी शल्य-चिकित्सा में एक नया युग आरंभ कर दिया। ये किरणें स्वयं अदृश्य हैं, पर शरीर के भीतर के गोपनीय रहस्य को स्पष्ट कर देने में अलौकिक हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक चमत्कारपूर्ण आविष्कार किये गये, और इस शताब्दी के अन्तिम वर्षों में एक्स-रश्मियों के आविष्कार ने इस युग को स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य बना दिया। इन किरणों के साथ रॉञ्जन का नाम अमर है—इनका नाम ही वैज्ञानिक जगत् में "रॉञ्जन-रश्मि" है। एक्स किरण तो नाम आरम्भ में इसलिये दिया गया था, क्योंकि उन दिनों इस किरण की जाति-पाँति का वैज्ञानिकों को पता न था। बीजगणित में अज्ञात राशि के लिये 'एक्स' अक्षर का व्यवहार

होता है, और इस किरण की रूपरेखा भी आरंभ में अज्ञात थी, अतः इसे भी एक्स-रे कहा गया। पर अब यह किरण वैज्ञानिकों के लिये 'एक्स' (अर्थात् अज्ञात) नहीं है—अब तो इसे रॉञ्जन-रश्मि ही कहना उचित होगा।

विलहेल्म कौनराड रॉञ्जन (Wilhelm Conrad Röntzen) प्रशिया के लेनेप स्थान पर २७ मार्च १८४५ को उत्पन्न हुआ था। ज्यूरिक में इसने कुण्डट (Kundt) की अधीनता में शिक्षा पाई, और अपने ही गुरु का वह वहाँ सहकारी नियुक्त हो गया। सन् १८८८ में वह वुरट्सबुर्ग में भौतिकशास्त्र का प्राध्यापक हो गया। भौतिक जगत् में यह वह समय था जब कि हर्ट्ज़ (Hertz) और लेनार्ड (Lenard) ने काँच की शून्यनली में विद्युत् संचार द्वारा एक ऐसी दृश्य किरण का आविष्कार किया था जो धातु के पतले पत्र में होकर भी आरपार जा सकती थी। स्वभावतः उस युग की प्रवृत्ति के अनुसार रॉञ्जन ने भी इसी प्रकार के प्रयोग आरंभ किये। रॉञ्जन काँच फूँकने के काम में विशेष रुचि रखता था और उसने अपनी रुचि के अनुसार तरह-तरह के आकार की शून्य नलियाँ बनायीं। इन नलियों की हवा वह बहुत कुछ मुँह से खींचकर निकाल देता था, और शेष हवा को शून्यक पम्प से निकालने का उसने प्रयास किया। नली के भीतर की हवा निकालने में वह जितना सफल हुआ, उतना उसके पूर्ववर्त्ती वैज्ञानिक न हो सके थे।

सन् १८९२ की बात है। रॉञ्जन ने यह ठीक-ठीक भाँप लिया था कि उपर्युक्त दृश्य किरणें विद्युन्मय कणों के प्रवाह हैं। उसने ऐसी शून्य नली बनायी जिसके दोनों सिरे S—आकृति के थे। वह यह देखना चाहता था कि इन सिरों में मुड़ते समय किरणों को कोई बाधा पड़ती है या नहीं। इस प्रयोग में साधारणतया कोई

सफलता नहीं मिली। जिस समय वह इन प्रयोगों को कर रहा था, शून्यनली के पास ही मेज पर पुस्तकों, काँच की नलियों और काले काग़ज़ से बन्द डिब्बों में फोटोग्राफी के प्लेटों का ढेर लगा हुआ था। एक फ़ोटोग्राफी के प्लेट पर उसने एक पुस्तक रख दी थी, जिसे वह अभी पढ़ ही रहा था—जहाँ तक उसने यह पुस्तक पढ़ी थी, उस जगह पर उसने अपनी चाभी रख दी थी--'स्मृति चिह्न' के रूप में, अस्तु। कुछ समय बाद रॉञ्जन ने उसी प्लेट पर किसी दृश्य का चित्र उतारा। जब उसने चित्र के नेगेटिव को डेवलप किया, चित्र में चाभी की छाया की रूपरेखा का स्पष्ट अंकन हो गया। ऐसा क्यों हुआ—उसने अपने विद्यार्थियों से पूछा कि तुमने तो प्लेट का उपयोग नहीं किया। पर किसी विद्यार्थी ने प्लेट छुआ तक न था। बस रॉञ्जन को इस रहस्य का सब भेद खुल गया। दूसरे दिन उसने अपनी शून्य नली के पास प्लेट, पुस्तक और चाभी पहले दिन की भाँति ही रक्खीं, और नली में विद्युत्-संचार प्रवाहित किया। यह उसके लिये एक कौतूहल की घटना थी कि आज भी प्लेट पर चाभी की छाया पहले दिन की भाँति ही अंकित हो गयी थी।

रॉञ्जन ने प्रयोग पुस्तक की भाँति अन्य बहुत से पदार्थों के साथ भी दोहराये, उसने देखा कि कोई अदृश्य किरण नली में से निकली और उसने इन पदार्थों के भी आरपार जाकर फ़ोटो के प्लेट को प्रभावित कर दिया। रॉञ्जन ने बहुत से प्रयोग किये कि किसी भाँति यह अदृश्य किरण दीख जाय, पर वह सफल न हो सका। इसी समय उसका ध्यान इस घटना की ओर गया कि जिस समय शून्य नली में विद्युत् संचार प्रवाहित होता था, नली की दीवारें दमक उठती थीं। रॉञ्जन ने भाग्यवश्य यह सोचा कि दमकने वाले (फ्लोरेसेंट) अन्य पदार्थों के उपयोग से इस अदृश्य किरण की उपस्थिति संभवतः व्यक्त हो सके। अपने विद्यार्थियों के

सहयोग से उसने दमकने वाले ५० पदार्थों की परीक्षा की। उसने यह देखा कि यद्यपि ये नई किरणें स्वयं अदृश्य हैं, पर उनके मार्ग में जब ये दमकने वाले पदार्थ रक्खे जाते हैं, तो यह दमकने लगते हैं। सभी परीक्षित पदार्थों में से बेरियम प्लैटिनोसायनाइड नामक पदार्थ सबसे अधिक दमकता है। दो काले पट्टों के बीच में इसके रवे रक्खे गये, और इनकी दमक को देख कर ये नयी किरणें भी मानों दृश्य करली गयीं – किरणें स्वयं तो अदृश्य ही रहीं, पर दमक देख कर उनके अस्तित्व का प्रत्यक्ष हो गया। दो वर्ष के परिश्रम के अनन्तर दिसम्बर १८९५ में रॉञ्जन ने अपनी इन नयी किरणों के अस्तित्व की घोषणा की-- उसने इन किरणों का नाम एक्स-किरण रक्खा और हम यह कह ही चुके हैं कि इन्हें 'एक्स' क्यों कहा गया।

जिस समय इन किरणों का आविष्कार हुआ था, इन किरणों को दृश्य किरणों की जाति की ही एक किरण माना गया, केवल अन्तर उनकी लहर की लम्बाई (तरंग-दैर्घ्य) का था। ऐसा समझा गया कि ये किरणें अन्य किरणों की अपेक्षा बहुत छोटी लहरों की होती हैं—इतनी छोटी लहरों की कि आँखों से दीखती भी नहीं, दीखने वाली लाल नीली किरणों की लहर लम्बाई एक इंच का ५० हजारवाँ भाग है, पर इन एक्स-किरणों की लहर लम्बाई एक इंच का कई करोड़वाँ भाग होगा, ऐसा समझा गया। रॉञ्जन का नाम इन नयी किरणों ने अमर कर दिया। वैज्ञानिक जगत ने इनका धूमधाम से स्वागत किया, और एक्स-किरणों के प्रयोग अनेक क्षेत्रों में होने लगे। सन् १८९६ में रॉञ्जन को उसके आविष्कार के लिये रमफोर्ड पदक और सन् १९०० में नोबेल पारितोषिक मिला। रॉञ्जन म्यूनिक में भौतिक विज्ञान का प्राध्यापक रहा और यहीं १० फर्वरी १९२३ को इसका देहावसान हो गया।

कैथोड किरणें

रॉन्जन किरणों के आविष्कार के साथ-साथ कैथोड किरणों का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। वस्तुतः रॉञ्जन किरणों का जन्म ही कैथोड किरणों के कारण होता है। जैसा हम आरम्भ में कह चुके हैं, इन किरणों का आविष्कार रॉञ्जन किरणों के पहले ही हो चुका था। चलिये, एक बार फिर हम शून्य नली के

एलेक्ट्रोनों का जन्म
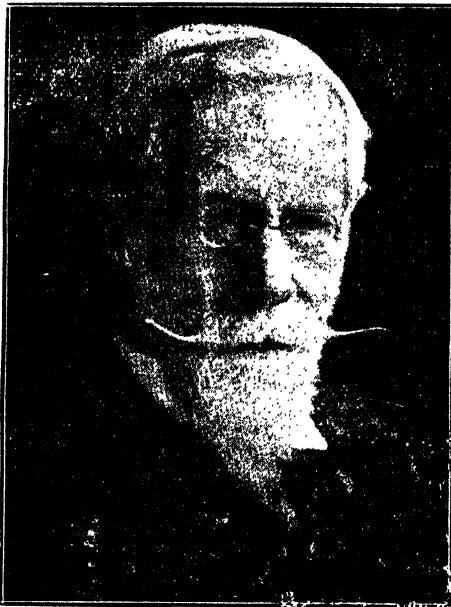
चित्र १०३—सर विलियम क्रूक्स

प्रयोग की ओर चलें। सन् १८५६ में जूलियस प्लूकर (Julius Plucker) नामक एक जर्मन वैज्ञानिक ने एक लम्बी काँच की

नली में हवा निकाल कर अच्छा शून्य तैयार किया। इस नली में जब विद्युत संचार प्रवाहित किया गया तो नली में हरी चमक दिखायी पड़ी। विद्युत् शून्य नली में विद्युत् जाने-आने के दो द्वार होते हैं—धनद्वार और ऋणद्वार। ऋणद्वार को जिससे बिजली की धारा बाहर निकलती है, कैथोड कहते हैं। प्लूकर ने कहा कि नली की हरी चमक उन किरणों के कारण है जो कैथोड से निकलती हैं, और निकल कर नली की दीवारों पर टकराती हैं। प्लूकर ने यह भी देखा कि शून्यनली के पास यदि कोई चुम्बक घुमाया जाय, तो चुम्बक के घूमने के साथ-साथ इन कैथोड किरणों का मार्ग भी इधर-उधर हटने लगता है। अभिप्राय यह है कि ये किरणें चुम्बकीय क्षेत्र से प्रभावित होती हैं। इस प्रयोग के महत्व पर प्लूकर ने कोई ध्यान नहीं दिया। थोड़े दिनों
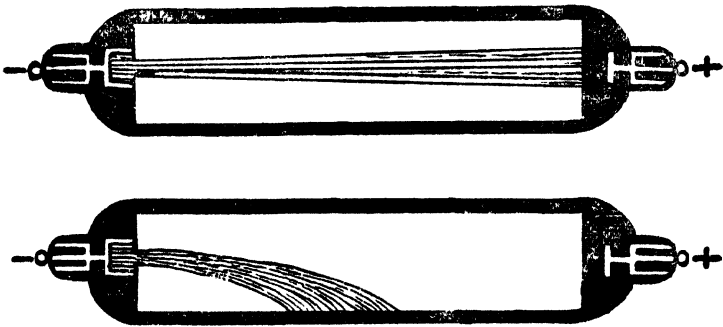
चित्र—१०४ शून्य नलिका में विद्युत् का विसर्जन

बाद १८६६ में हिट्टोर्फ (Hittorf) नामक एक दूसरे जर्मन वैज्ञानिक ने यह देखा कि यदि शून्यनली के भीतर किरणों के मार्ग में कोई ठोस पत्र रख दिया जाय, तो उससे टकरा कर

कैथोड किरणें रुक भी जाती हैं। सन् १८७९ में सर विलियम क्रूक्स (Crookes) ने इन किरणों पर विशद प्रयोग आरम्भ किये, और उसने यह स्पष्ट कर दिया कि ये किरणें प्रकाश की अन्य किरणों से भिन्न हैं—ये तो ऋण विद्युत् से आविष्ट द्रव्य के सूक्ष्म कण हैं जो तेज़ी से एक ओर को जा रहे हैं। यदि इनके मार्ग में छोटा सा पतला पंखा रख दिया जाय तो वह इनके ज़ोर से नाच उठेगा। ये किरणें कैथोड से उसी प्रकार छूटती हैं जैसे बन्दूक से कोई जल्दी-जल्दी गोलियों का प्रवाह छोड़ रहा हो। क्रूक्स के इन विचारों का इंगलैंड में तो स्वागत हुआ पर जर्मनी वाले अब भी कैथोड किरणों को विद्युत् आविष्ट द्रव्य कण मानने को तैयार नहीं थे। हाइनरिक् हर्ट्ज़ (Hertz) जिसने उन विद्युत् तरंगों का आविष्कार किया जिनसे बेतार के तार को जन्म मिला, अब भी इन किरणों को वास्तविक किरण समझता था। लोगों को यह विश्वास न होता था कि किस प्रकार द्रव्यकण चीज़ों के आरपार जाने में सफल हो सकेंगे—कैथोड किरणें सोने और एल्यूमिनियम के पतले पत्रों के आरपार चली जाती थीं। सन् १८९४ में हर्ट्ज़ के एक शिष्य फिलिप लेनार्ड (Philip Lenard) ने इतनी तीव्र कैथोड किरणें तैयार कीं जो धातुओं के पत्रों में उसी प्रकार आरपार चली जाती थीं, जैसे अल्पपार दर्शक संगमरमर के पतले टुकड़े में होकर सूर्य की रोशनी। सन् १८९७ में सर जे० जे० थामसन (J. J. Thomson) ने इन कैथोड किरणों पर विशेष प्रयोग आरंभ किये और उन्होंने निश्चयतः यह सिद्ध कर दिया कि कैथोड किरणें वस्तुतः ऋण विद्युत् से आविष्ट द्रव्य के
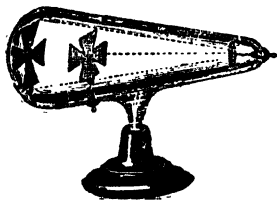
चित्र १०५ – कैथोड किरणों में बल

सूक्ष्म कणों का प्रवाह ही हैं। इन छोटे-छोटे सूक्ष्म कणों का नाम उन्होंने 'एलेक्ट्रोन' (ऋणाणु) रक्खा। शून्यनली के भीतर हवा की जो थोड़ी सी मात्रा शेष रह जाती है उसके अणु विद्युत् संचार द्वारा टूटने लगते हैं, और इन अणुओं के टूटने पर एलेक्ट्रोन पृथक् हो जाते हैं। सर जे० जे० थामसन ने एलेक्ट्रोनों पर विशेष खोजें कीं, और उन्होंने यह भी बताया कि एक एले-क्ट्रोन का भार हाइड्रोजन के एक परमाणु के भार का १८४० वाँ भाग है। अब इससे आप यह समझ सकते हैं कि एलेक्ट्रोन कितना छोटा कण है।

इस प्रकार शून्य नली के प्रयोग ने एलेक्ट्रोन और एक्सरश्मि दोनों को जन्म दिया। एक्सरश्मि कैथोड किरणों से (जो एले-क्ट्रोन का प्रवाह हैं) इस बात में भिन्न है कि इस पर चुम्बक का कोई असर नहीं होता। कैथोड किरणों का रॉञ्जन किरणों से अन्योन्याश्रय का संबंध है। कैथोड किरणें आगे चल कर रॉञ्जन रश्मियों को जन्म देती हैं। रॉञ्जन रश्मियें भी पदार्थों पर पड़ कर एलेक्ट्रोनों को जन्म दे सकती हैं। हम यहाँ इस बात की उलझन में नहीं पड़ना चाहते कि आपको बतावें कि रॉञ्जन किरणों का वास्तविक स्वरूप क्या है।

रॉञ्जन किरणों द्वारा छाया चित्र

रॉञ्जन किरणें बहुत से पदार्थों में हो कर तो आरपार चली जाती हैं, पर कुछ पदार्थों के भीतर यह प्रविष्ट नहीं भी हो पातीं। अगर आप किसी एक्स-रे-क्लीनिक में जहाँ एक्स-रे से परीक्षा की जाती है, चले जायँ, और अपने हाथ को एक्स-रश्मियों के मार्ग में रक्खें और हाथ के आगे दमकने वाला पर्दा (फ्लोरेसेंट स्क्रीन) रक्खें, तो आपको दिखायी देगा कि ये किरणें माँस और रुधिर को तो आरपार कर सकी हैं, पर हाथ की हड्डियों में नहीं

घुस सकीं। हड्डियों की छाया परदे पर स्पष्ट दिखायी देगी। आप अपनी अँगुलियों की हड्डियों को गिन सकते हैं। इसी प्रकार यदि आप चमड़े के पर्स (बटुये) में कुछ इकन्नी चवन्नी रखदें, और

चित्र १०६ --रॉञ्जन किरणों से हाथ के पंजे की हड्डियों का चित्र

फिर इस पर्स को एक्स-रे के सामने रक्खें तो आपको परदे पर इकन्नी चवन्नी की स्पष्ट छाया दिखायी देगी। बात यह है कि रॉञ्जन किरणें चमड़े को तो आरपार कर सकीं पर धातु के सिक्कों

में न घुस सकीं। छाया तो उन्हीं चीज़ों की पड़ती है, जिनमें हो कर किरणें न जा सकें। अगर आप अपनी मुट्ठी में चाभी का गुच्छा छिपा लें, तो रॉञ्जन छाया चित्र देख कर इसका भी पता चल जायगा। अगर आपकी बाँह में बन्दूक की कोई गोली घुस गयी है, तो छाया चित्र देख कर यह स्पष्ट पता चल सकता है कि गोली कहाँ बैठी हुई है।

चिकित्सकों और शरीर विज्ञान वेत्ताओं ने शरीर के हर एक अंग की हड्डियों के छाया चित्र ले लिये हैं। इन चित्रों से जनता का बहुत हित हुआ है। मान लीजिये कि आपकी कोहनी की कोई हड्डी टूट गयी है। आप कोहनी का रॉञ्जन किरण से छाया चित्र लीजिये। चित्र देख कर शरीरवेत्ता आपको बता देगा कि हड्डी कहाँ पर टूटी है। अगर आपकी गरदन की हड्डी खिसक गयी हो, और अतीव वेदना हो रही हो, तो छाया चित्र द्वारा यह पता चल सकता है कि हड्डी किधर को खिसकी है। चित्र देख कर आप हड्डी को ठीक स्थान पर बिठा सकते हैं। अगर आप यक्ष्मा के रोगी हैं, तो चित्र देख कर बताया जा सकता है कि आपका कौन सा फेंफड़ा काम कर रहा है और किसमें कितना विकार उत्पन्न हो गया है।

चीड़फाड़ की चिकित्सा में तो रॉञ्जन-छाया-चित्र आजकल नितान्त उपयोगी सिद्ध हुये हैं। चीड़फाड़ करने से पहले ठीक-ठीक पता लगा लेना चाहिये कि ख़राबी कहाँ पर है और कहाँ पर चाकू का प्रयोग करना चाहिये। माताओं के प्रसव के समय कभी-कभी जो बाधायें पड़ती हैं, उनका प्रतीकार छाया-चित्र के आधार पर ही भली प्रकार हो सकता है।

पेट की बहुत सी अँतड़ियाँ रॉञ्जन किरणों के लिये पारदर्शक हैं, अतः इनकी छाया नहीं पड़ पाती। ऐसी अवस्था में यदि रोगी को वह भोजन खिलाया जाय जिसमें लोहे का अंश बहुत हो, तो

जब यह भोजन अँतड़ियों में पहुँचेगा, तो लोहे के कारण उन अँतड़ियों का भी छाया-चित्र लिया जाना संभव हो सकेगा। चिकित्साशास्त्र में रॉन्जन-छाया-चित्रण आजकल एक विशेष कला मानी जाती है। कुछ चिकित्सक इस कला के विशेषज्ञ होते हैं। छाया-चित्रों का ठीक-ठीक पढ़ लेना हर एक डाक्टर का काम नहीं है। विशेषज्ञ ही यह जान सकते हैं कि चित्र किस रहस्य को व्यक्त कर रहा है। कभी-कभी रोगी को कई स्थितियों में बिठाकर चित्र लेने पड़ते हैं, और कई चित्रों की तुलना करने पर ही वस्तु-स्थिति का पता चल पाता है।

रॉञ्जन किरणों का घातक प्रभाव

रॉञ्जन किरणों ने रहस्य के उद्घाटन के लिये जहाँ हमें नयी आँखें दीं, वहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि ये किरणें भयंकर हानि भी पहुँचा सकती हैं। जिस समय ये शरीर के रुधिर-मांस में प्रवृष्ट होती हैं, वहाँ तीव्र एलेक्ट्रानों को मुक्त कर देती हैं। इनकी तीव्रता ऐसी होती है, कि इससे दुखदायी-घाव हो सकते हैं। रोगी को ५-१० मिनट ही किरणों के सामने रहना पड़ता है, पर चिकित्सक को तो नित्य इन किरणों से काम लेना पड़ता है। सबसे अधिक जोखम तो उसके जीवन का है। इस लिये रॉञ्जनालयों में इस प्रकार का प्रबन्ध रहता है कि समस्त शून्यनली के चारों ओर सीसा-धातु का बना खोल रहता है (रॉञ्जन किरणें सीसे में प्रविष्ट नहीं होतीं)—केवल किरणों के निकलने के लिये छोटा सा द्वार होता है। परीक्षक अपने हाथ में सीसा के दस्ताने पहने रहता है, और ऊपर से शरीर पर रबर का ओवरकोट भी पहन लेता है। तात्पर्य यह है कि किरणों के उग्र प्रभाव से बचने का यथा संभव ठीक प्रबन्ध रखना चाहिये।

यह संतोष की बात है कि रॉञ्जन किरणों से उत्पन्न घाव

कालान्तर में अपने आपही अच्छे भी हो जाते हैं—कोई ऊपरी चिकित्सा नहीं करनी पड़ती।

रॉञ्जन किरणों द्वारा चिकित्सा

अधिक देर तक तो किरणों के सम्मुख रहने पर शरीर की त्वचा में घाव हो जाते हैं, पर थोड़ी देर रहने से कुछ लाभ भी हो सकते हैं। यक्ष्मा के रोगियों पर इन किरणों से बहुधा प्रयोग किये गये हैं, और यह पाया गया है कि यक्ष्मा के कीटाणु इन किरणों से मर सकते हैं। रोगी के शरीर पर विशेष दवाइयों के लेप लगा कर इन किरणों द्वारा प्रदीप्त करने पर कभी-कभी लाभ देखा गया है, पर, अभी यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि चिकित्सा संबंधी ये प्रयोग कहाँ तक सफल हुए हैं। त्वचा संबंधी बीमारियों में जैसे दाद, या खाज, इन किरणों का प्रयोग अवश्य अच्छे फल देता है। प्रदीप्त होने पर रुधिर का संचालन ठीक प्रकार से होने लगता है, जिससे लाभ होता है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि यह चिकित्सा कुशल चिकित्सकों के हाथों से ही करायी जाय, अन्यथा लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होगी। आँखों को इन किरणों से बचाना चाहिये। इस काम के लिये सीसा धातु के लवणों से युक्त काँच से बने हुये चश्में आते हैं जिनका सर्वदा उपयोग करना चाहिये।

१३—युद्ध की भयंकरता-विस्फोटक द्रव्य

आक्रमण और आत्मसंरक्षण जीवन के दो विशेष अंग हैं। राग और द्वेष – इन दोनों को मनुष्य अपनी सभ्यता के इतिहास में आज तक तिलाञ्जलि नहीं दे सका है। हमारा सांस्कृतिक इतिहास देवासुर संग्राम की घटनाओं से भरा पड़ा है। महाभारत का युद्ध हमारे इतिहास का एक महत्त्व पूर्ण अंश है। अपने स्वत्वों की रक्षा के लिये और कभी-कभी अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिये हमने दूसरों पर आक्रमण किया। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के रुधिर का प्यासा हो गाया। परस्पर इस बात की होड़ लग गई कि अपने विपक्षी को कौन कितना शीघ्र हताहत कर सकता है। पत्थरों के वज्र बनाये, लोहे और इस्पात के अस्त्र बने, धनुष बाण का युग आया, हमने बाणों को विषों में बुझाया, खड्ग बने, धूम्रबाण छूटे, भुशुंडी, शतघ्नी आदि आग्नेयास्त्रों का प्रयोग हुआ, बारूद का युग आया—जिसने हमें बन्दूक़, तोप और पिस्तौलों से परिचित कराया। इस सभ्यता के अन्त की कोई सीमा नहीं है। सभ्यता के आवरण में बर्बरता का रूप ही विकसित होता गया है—हमारा सांस्कृतिक इतिहास सम्पन्न साधनों का इतिहास है—मनुष्य की प्रकृति और प्रवृत्ति आज भी वही है जो लाखों वर्ष पूर्व थी।

आविष्कारों के इतिहास में आग का आविष्कार संभवतः

सबसे अधिक महत्त्व रखता है। किन परिस्थितियों में किसने सबसे पहले आग उत्पन्न की—इसका हमारे पास कोई उल्लेख नहीं। हमारी सबसे प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद का सबसे पहला शब्द ही 'अग्निम्' है। पर हाँ, कुछ दो सौ वर्ष पूर्व ही हम इस बात को ठीक-ठीक समझ सके कि आग जलने का अर्थ लकड़ी, तेल या और किसी ईंधन का ऑक्सिजन से संयुक्त होना है। ऑक्सिजन कभी-कभी तो पदार्थों से बहुत धीरे-धीरे संयुक्त होता है जैसे जंग लगते समय लोहे के साथ—इस क्रिया में कई सप्ताह या कई मास लग सकते हैं, पर आग जलने में यह संयोग अपेक्षाकृत क्षणिक होता है। बन्दूक़ में भरने वाली बारूद के भभकने में हवा के ऑक्सिजन का इतना उपयोग नहीं होता, जितना कि शोरे में स्थित ऑक्सिजन का। हवा के अभाव में भी आग लगाने पर या चोट देने पर बारूद तत्क्षण भभक उठती है, इस प्रकार भभक उठने को विस्फोट कहते हैं। डायनेमाइट में विस्फोट की लहर एक सैकंड में ५००० गज़ से भी दूर पहुँच जाती है। एक मील दूर तक बिछी हुई डायनेमाइट की कारतूसों के एक सिरे पर आग लगायी जाय तो यह आग दूसरे सिरे तक चौथाई सैकंड में ही पहुँच जायगी। यदि रुई को नाइट्रिक ऐसिड (शोरे के तेज़ाब) में भिगो लिया जाय, और इसमें नाइट्रोग्लिसरीन (जो ग्लिसरीन और नाइट्रिक ऐसिड के संयोग से बनती है) भी मिला ली जाय तो विस्फोट की लहर और भी अधिक प्रगति से आगे बढ़ेगी। यह याद रखना चाहिये कि साधारण जलने और विस्फोट में अन्तर यही है कि एक में तो ऑक्सिजन का संयोग धीरे-धीरे होता है, और दूसरे में बड़ी तेजी से भभकने पर बारूद में से गैसें निकलती हैं। स्थान संकुचित होने के कारण इनका दबाव अधिक होता है, जैसे ही यह बारूद हवा में आती है, दबाव एक दम कम हो जाता है। ऐसी अवस्था में ही जोर का धड़ाका सुनाई पड़ता है। तोप

द्वारा विस्फोट होने पर धड़ाका इतना प्रबल होता है कि कान के परदे फट सकते हैं। युद्ध के मैदानों में लड़ने वाले सैनिकों के कान स्थायी अथवा अस्थायी रूप से बहुधा बहरे हो जाते हैं—धड़ाके का स्वर सुनकर मस्तिष्क के तन्तु भी विकृत हो जाते हैं, और इस लिये कभी-कभी बमबाजी के अवसर पर सैनिक और नागरिक पागल भी हो जाते हैं।

बारूद बनाने की पुरानी विधि तो शोरा, गन्धक और कोयले को अलग-अलग पीस कर मिलाने की थी। शोरा ऑक्सिजन देता था, जिसे लेकर कोयला और गन्धक जलते थे। यद्यपि आजकल इस बारूद से भी भयंकर अन्य अनेक पदार्थों का आविष्कार हो गया है, फिर भी किसी न किसी रूप में इसका उपयोग अब भी होता है। संसार के सभी उन्नत देशों में विस्फोटक पदार्थ बनाने के राजकीय कारखाने हैं—पूरा स्वत्व जनता के हाथ में नहीं, प्रत्युत शासक सत्ता के हाथ में है। इन कारखानों से विशेष रसायन-शालायें संयुक्त हैं। सफल विस्फोटक में दो गुण होने चाहिये—(१) विस्फोटक स्वयं कम से कम स्थान घेरे, पर विस्फोट होने पर उससे निकली हुई गैसें अधिक से अधिक स्थान घेरें। एक घनफुट नाइट्रोग्लिसरीन (सवा मन बोझ की) विस्फोट से जितनी गैसें देती है, वे साधारण तापक्रम तक ठंढा किये जाने पर १००० घनफुट से अधिक जगह घेरती हैं। (२) विस्फोट होने पर अधिक से अधिक गरमी उत्पन्न हो, जिससे गैस और भी अधिक फैल जायँ। नाइट्रोग्लिसरीन के विस्फोट में इतनी गरमी होती है कि १००० घनफुट वाली गैसें इससे फैल कर १०००० घनफुट के लगभग हो जाती हैं। गैसों का इतना फैलने के लिये जल्दी स्थान नहीं मिलता है, और फलतः उनका दबाव २ लाख से ३ लाख पौंड प्रति वर्ग इंच हो जाता है, किसी स्टीम बॉयलर के फाड़ देने के लिये भाप का जितना दबाव चाहिये उससे भी १००० गुना विस्फोट

में इतनी गरमी का पैदा होना जिससे दबाव इतना बढ़ जाय और वह सब भी १ सैकंड से कम ही समय में—ये सब बातें ही विस्फोट को इतनी प्रबल शक्ति और भयंकरता देती हैं। गैसें फैलना चाहती हैं, और उनके मार्ग में पत्थर की चट्टानें भी बाधा पहुँचायें, तो उन्हें भी ये गैसें चूर-चूर कर देती हैं। नाइट्रोग्लिसरीन का बम जिस स्थान पर गिरता है, वहाँ तो इसका घातक प्रभाव होता ही है, पर उस स्थल के आस पास की हवा में ऐसा विक्षोभ पैदा हो जाता है कि विस्फोट की लहरें दूर पर स्थित मकान के खिड़की और दरवाज़ों को भी झकझोर डालती हैं।

बस विस्फोटक पदार्थ इसी रहस्य के आधार पर काम करते हैं। लैम्प में तो पेट्रोल शान्ति से जलता है पर यदि इसमें पहले से हवा मिला दी जाय, और संकुचित स्थान पर इस मिश्रण में आग लगा दी जाय तो ऐसा विस्फोट होगा जिसे नियंत्रित करके हम अपना हवाई जहाज़ १७५ मील प्रति घंटे की गति से चला सकते हैं। हवाई जहाज़ या मोटर कार में सारे यन्त्र इसी उद्देश्य के लिये होते हैं, कि विस्फोट द्वारा उत्पन्न बल उनके पहियों की ओर प्रेरित कर दिया जाय। इस प्रकार विस्फोटकों का उपयोग न केवल हम प्राणघातक कार्य्यों में करते हैं, प्रत्युत शान्ति और ऐश्वर्य के साधनों में भी करते हैं।

कोयला-शोरा-गन्धक वाली बारूद का खानों की खोदाई के लिये सर्व प्रथम उपयोग १६१३ में किया गया था—मार्टिन वाइगल (Martin Weigel) ने फ्राइबुर्ग में। १८ वीं शताब्दी तक इस बारूद का अधिक प्रचार रहा। सन् १८३२ में ब्रेकोनो (Braconnot) ने स्टार्च (माँड़ी या निशास्ता) और नाइट्रिक ऐसिड के संयोग से प्रबल विस्फोटक तैयार किया। ६ वर्ष के अनन्तर पेलो (Pelouse) और ड्यूमा (Dumas) ने रुई और काग़ज़ को

नाइट्रिक ऐसिड से प्रभावित करके गनकॉटन और गन पेपर (रूई और कागज़ की बारूद) नामक दो विस्फोटक पदार्थ तैयार किये। सन् १८४६ में एक इटलीवासी ऐसकेनियो सोब्रेरो (Ascanio Sobrero) ने ग्लिसरीन को नाइट्रिक ऐसिड से संयुक्त कराकर नाइट्रोग्लिसरीन नाम का एक पदार्थ तैयार किया। (नाइट्रिक ऐसिड से संयुक्त कराने की क्रिया को 'नाइट्रेशन' कहते हैं, और इस प्रकार जो यौगिक बनते हैं उन्हें 'नाइट्रो' यौगिक कहते हैं।) नाइट्रोग्लिसरीन देखने में तो तेल के समान एक पदार्थ है, पर यह इतना सुकुमार है कि थोड़े से ही विक्षोभ से भभक उठता है—इसका नाम इस गुण के कारण 'ब्लास्टिंग ऑयल' पड़ गया था। तेल सा होने के कारण इसे आसानी से चट्टानों की दराजों में छोड़ा जा सकता था, और पलीता जला कर इसमें आग लगायी जा सकती थी। नाइट्रोग्लिसरीन ने चट्टानों के तोड़ने में अद्भुत चमत्कार दिखाया। खानों और सुरंगों को खोदने में इससे बड़ी सहायता मिली। पर यह विस्फोटक इतना सुकुमार था कि इसका उपयोग करना जीवट का काम रहा है। इससे अनेक दुर्घटनायें हो गयीं। एक बार एक जहाज़ नाइट्रोग्लिसरीन चिली (दक्षिण अमरीका) प्रदेश को ले जा रहा था। जहाज़ के धक्कों के कारण इसमें आग लग गयी और जहाज़ तहस नहस हो गया। ऐसा प्रतीत होने लगा कि इस पदार्थ के उपयोग पर सभ्य देशों में प्रतिबन्ध लगा दिया जायगा।

डायनेमाइट

पर सन् १८६६ में स्वेडेन के एक रसायनज्ञ ने नाइट्रोग्लिसरीन की समस्या को सुलझाया। इस व्यक्ति का नाम ऐलफ्रेड नोबेल (Alfred Nobel) था। उसने नाइट्रोग्लिसरीन में एक प्रकार की बलुही मिट्टी (कीसलगुर) मिलाई, और इस प्रकार लकड़ी के बुरादे

के समान का जो पदार्थ मिला, उसका नाम उसने *डाइनेमाइट* रक्खा। बलुही मिट्टी मिली नाइट्रोग्लिसरीन का इधर से उधर ले जाना विपदामय नहीं था। इस डायनेमाइट में शोरा-कोयला की बारूद की अपेक्षा दुगुनी शक्ति थी। इसके आविष्कार ने विस्फोट-कला के युग में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। खानों से संबंध रखने वाले कारखानों की आधुनिक उन्नति का बहुत कुछ श्रेय डायनेमाइट को है। नोबेल ने अपने डायनेमाइट के आविष्कार से बहुत सम्पत्ति कमायी। उसे यह आशंका हुई कि मानव समाज उसके इस आविष्कार का उपयोग प्रतिहिंसक कार्य्य में कर लेगा। इसके प्रायश्चित्त-रूप उसने बहुत सा धन इस काम के लिये दान दिया कि उससे वैज्ञानिकों, साहित्यिकों और शान्ति-प्रसारकों को पारितोपिक दिये जाया करें। ये पारितोषिक नोबेल-पारितोषिक के नाम से संसार भर में विख्यात हैं।

गनकॉटन का उपयोग

हम कह चुके हैं कि पेलो और ड्यूमा ने १८३८ में गनकॉटन (रुई और नाइट्रिक ऐसिड के संयोग से) बनायी। गनकॉटन आग में जलाई जाने पर शान्ति से जलती है, और विस्फाट नहीं देती। इसे ईथर में जब घोला जाता है तो एक चिप-चिपा घोल प्राप्त होता है जिसे 'कोलोडियन' (Collodion) कहते हैं जिसका उपयोग फोटोग्राफी में या प्लास्टर में भी होता है—खुले रख छोड़ने पर ईथर उड़ जाता है और गनकॉटन की महीन पारदर्शक पर्त्त बन जाती है। एक दिन की बात है कि नोबेल इस धुन में था कि नाइट्रोग्लिसरीन के साथ कौन-कौन से पदार्थ मिलाये जाना अच्छा होगा। अकस्मात् उसकी अंगुली चाकू से कट गयी। रुधिर के प्रवाह को रोकने के लिये उसने नौकर को कोलोडियन लाने को कहा। कटी अंगुली पर उसने कोलोडियन लगा लिया। इसी समय

उसका ध्यान इस ओर गया कि कोलोडियन में घुले गनकॉटन को क्यों न नाइट्रोग्लिसरीन के साथ मिलाया जाय। गनकॉटन में जलाने के काम का ऑक्सिजन कम होता है, और नाइट्रोग्लिसरीन में आवश्यकता से अधिक। अतः दोनों को मिलाने पर एक की कमी दूसरे की सम्पन्नता से पूरी हो जायगी। बस नोबेल ने गन-कॉटन-नाइट्रोग्लिसरीन मिश्रण तैयार किया। यह नाइट्रोग्लिसरीन की अपेक्षा आधी शक्ति वाला था। इस नये विस्फोटक मिश्रण का नाम 'ब्लास्टिंग जिलेटिन' (Blasting gelatine) रक्खा गया। आल्प्स पर्वत की चट्टानों को तोड़ने में यह बहुत सफल हुआ है। ब्लास्टिंग जिलेटिन में शोरा और लकड़ी का बुरादा मिला कर नोबेल ने इसके विस्फोट में सुधार किये। आजकल जिलेटिन-विस्फोटकों का प्रचार इतना अधिक है कि अनेक देशों में इसके आगे डायनेमाइट को कोई पूछता भी नहीं।

पाउडर-बी—Poudre B

गनकॉटन से बने हुये जिलेटिन विस्फोटकों का उपयोग बहुत दिनों तक तोपों में नहीं किया जा सका। बात यह है कि यह विस्फोट इतना उग्र और प्रचंड होता था, कि उसमें तोप भी उड़ जाती थी—तोप चलाने वाले की जान पर भी बीतती थी। सन् १८८२ में पॉल विले (Paul Vielle) नामक एक फ्रान्सीसी ने गनकॉटन के उपयोग की एक विधि निकाली जिसे फ्रेंच सरकार ने १८८४ में अपनाया। उस समय का युद्ध मंत्री जनरल बूलेंगर (Boulanger) था। उसके नाम का प्रथमाक्षर बी लेकर इस नये विस्फोटक का नाम पाउडर-बी पड़ा। पाउडर-बी इस प्रकार बनाया गया। गनकॉटन को ईथर और एलकोहल के मिश्रण में आटे के समान गूँधा गया। इस गुँधे पदार्थ को साँचों में दबाया गया। इस प्रकार गनकॉटन का घोलक रस निचुड़ गया, और पदार्थ विशेष

आकृति का बन गया। घोलक के निचुड़ और उड़ जाने पर भूरे रंग की दृढ़ गोलियाँ (या गट्टे) मिलीं। इनका उपयोग तोप और बन्दूकों में किया जाना सरल हो गया। इसके विस्फोट में धुआँ नहीं निकलता।

पाउडर-बी के उपयोग से कई बार दुर्घटनायें भी हो गयीं। सन् १९०७ में एक जंगी जहाज़ 'येना' (Jena) और १९११ में दूसरा जहाज़ 'लिबर्टी' (Liberte) इसके कारण उड़ गये। इन घटनाओं से भयभीत हो कर बहुत से देशों ने पाउडर-बी का उपयोग ही बन्द कर दिया। फ्रान्स, रूस और अमरीका में सभी प्रकार की तोपों में इसका उपयोग अब तक होता है—पर इंगलैंड और इटली में नहीं।

कौर्डाइट

हम कह चुके हैं कि पाउडर-बी से दुर्घटनायें बहुत हुईं। इस कारण इंगलैंड वासियों ने इसका उपयोग करना अच्छा न समझा। बृटिश सरकार के आग्रह पर एबेल और डीवार (Abel and Dewar) ने एलफ्रेड नोबेल से आविष्कार का लाभ उठाते हुये नाइट्रोग्लिसरीन और गनकॉटन के मिश्रण से नये विस्फोटक बनाना आरम्भ किया। उन्होंने विशेष विस्फोट तैयार किया। जिसका नाम कौर्डाइट है। यह इस प्रकार बनाया गया—गनकॉटन और नाइट्रोग्लिसरीन को हाथ से मिलाया गया, फिर मशीन में एसीटोन नामक द्रव में कई घंटे साना गया। बीच-बीच में इसमें थोड़ी सी वैसलीन भी मिला दी गई। गुँधे हुये पदार्थ को मशीन में दबा कर बन्दूक़ के काम लायक़ गोलियाँ तैयार की गईं। बहुत दिनों तक कौर्डाइट में ५८ भाग नाइट्रोग्लिसरीन, ३७ भाग गनकॉटन और ५ भाग वैसलीन मिलती रही। पर बोयर युद्ध के समय यह देखा गया कि इसके उपयोग से तोपें और बन्दूकें बहुत शीघ्र जीर्ण

शीर्ण हो जाती हैं। तब से कॉर्डाइट में ३० भाग नाइट्रोग्लिसरीन में ६५ भाग गनकॉटन मिलाते हैं।

कॉर्डाइट विस्फोटक में भी धुआँ नहीं पैदा होता। इसका लाभ यह है कि युद्ध में इसके प्रयोग से वातावरण स्वच्छ रहता है, दूर तक देखने और युद्ध क्षेत्र के निरीक्षण में बाधा नहीं पड़ती।

पिक्रिक ऐसिड और टी-एन-टी

आजकल विस्फोटक के रूप में पिक्रिक ऐसिड का बहुत कम उपयोग होता है, पर अभी कुछ वर्ष पूर्व तक यह काम में बहुत आता था। फ्रान्सीसियों के 'मेलेनाइट', जापानियों के 'शिमोज़' और अँग्रेज़ों के 'लीडाइट'—ये तीनों प्रसिद्ध विस्फोटक पिक्रिक ऐसिड से बनते रहे हैं। पिक्रिक ऐसिड बहुत दिनों से रँगाई के काम में आता रहा है। यह कार्बोलिक ऐसिड को नाइट्रिक और सलफ्यूरिक ऐसिडों से प्रभावित करके बनाया जाता है। यह पीले रंग का रवेदार पदार्थ है। रेशम की रँगाई में विशेष काम आता है। एक बार मैंचेस्टर की रंगरेज़-शाला में एक दुर्घटना होगयी और तब से इसके विस्फोटक गुणों की ओर लोगों का ध्यान गया। केवल गरम करने से इसमें विस्फोट नहीं होता—गरम करके इसे पिघला सकते हैं। यदि बिलकुल सूखे पिक्रिक ऐसिड पर घन से चोट लगायी जाय तो यह विस्फोट देता है। पलीते के सिरे पर पटाखे के समान कोई पदार्थ लगाया जाता है, इसका पटाखा पिक्रिक ऐसिड में भी विस्फोट उत्पन्न कर देता है।

जैसे कोलतार से कार्बोलिक ऐसिड निकलता है जिसका व्यवहार पिक्रिक ऐसिड बनाने में करते हैं, उसी प्रकार कोलतार से निकले हुये पदार्थों में एक चीज़ टोल्वीन होती है, इसको नाइ-ट्रिक ऐसिड से संयुक्त करने पर एक पदार्थ बनता है, जिसका पूरा नाम ट्राइ-नाइट्रो-टोल्वीन है। इसे ही संक्षेप में टी-एन-टी (T. N.

T. या tri-nitro-toluene) कहते हैं। यह पिक्रिक ऐसिड से भी प्रबल विस्फोटक है और इसका व्यवहार विपदा-पूर्ण भी नहीं है। साधारण विस्फोटकों में इसका उपयोग सबसे अधिक निरापद है। पर जब यह विस्फुटित होता है, तो इतना भयंकर हो जाता है कि भूमि थर्रा जाती है, पेड़ गिर पड़ते हैं, मकान क्या चट्टानें तक चूर-चूर हो जाती हैं।

परमाणु-बम

संसार के सभी सभ्य देशों में होड़ लगी हुई है कि कौन अधिक उग्र विस्फोटक तैयार कर सकता है। गत महायुद्ध की सबसे महत्वपूर्ण घटना परमाणु-बम का आविष्कार है। संयुक्त-राज्य अमरीका ने सबसे पहला विस्फोट १६ जुलाई १९४५ को किया। बाद को जापान के हिरोशिमा नगर पर परमाणु बम गिराया गया जिससे क्षण भर में यह नगर तहस-नहस हो गया। इस विस्फोट से आशंकित होकर विश्वव्यापी द्वितीय महायुद्ध समाप्त हो गया। सन् १९४५ से अब तक अमरीका ने परमाणु-विस्फोटन के ४२ प्रयोग किए हैं, और कुछ प्रयोग रूस में भी हुए हैं। आजकल का परमाणु-बम १९४५ के परमाणु-बम से २५ गुना अधिक भयानक है।

परमाणु-बम के आविष्कार का इतिहास बड़ा मनोरञ्जक है। लार्ड रथरफोर्ड (Rutherford) की प्रयोगशाला में परमाणुओं के केन्द्रों के खण्डित करने के प्रयोग बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही होने लगे थे। सन् १९३२ में इसी प्रयोगशाला में प्रो० चैडविक ने "न्यूट्रोन" की खोज की। ये न्यूट्रोन हाइड्रोजन के समान भार वाले बहुत छोटे-छोटे कण हैं जो तीव्रता से परमाणुओं के केन्द्रों से टकरा सकते हैं। इधर यह पता चला कि मामूली यूरेनियम में जिसका परमाणुभार २३८ है कुछ ऐसा भी

यूरेनियम है जिसका परमाणुभार २३५ है। यह यूरेनियम २३५ जब न्यूट्रोनों के संपर्क में आता है, तो एक नये तत्त्व में परिणत हो जाता है जिसे प्लूटोनियम कहते हैं। इसने परमाणु-बम बनाने में बड़ी सहायता दी।

कुछ वर्ष हुए, हान (Hahn) और माइटनर (Meitner) नामक वैज्ञानिकों ने यह प्रदर्शित किया कि जब यूरेनियम परमाणु न्यूट्रोनों के प्रहार से खंडित होता है, तो इससे बेरियम (१३७ भार) और क्रिप्टन (८४ भार) दो तत्त्व बनते हैं, और प्रतिक्रिया में कुछ द्रव्य लुप्त भी हो जाता है। सन् १९०५ के लगभग ही प्रो० आइन्सटाइन ने यह बताया था कि जब द्रव्य का लोप होगा तो बहुत सी ऊर्जा या शक्ति उत्पन्न होगी। फलतः यूरेनियम के खंडित होने में इतनी शक्ति प्रकट हुई कि जिसका बम के रूप में उपयोग किया जा सका। प्लूटोनियम को खण्डित करके यह शक्ति परमाणुबम के उपयोग की बनायी जा सकी। इस बम को सफल बनाने के लिए करोड़ों रुपये की सम्पत्ति का उपयोग किया गया।

कहा जाता है कि सूर्य्य की शक्ति भी परमाणुओं की शक्ति है। सूर्य्य और अन्य नक्षत्रों में हाइड्रोजन गैस के परमाणु आपस में मिलकर हीलियम गैस बना रहे हैं। हाइड्रोजन के ४ परमाणुओं को मिलकर जब हीलियम का एक परमाणु बनता है, तो इस प्रतिक्रिया में ०·७ प्रतिशत द्रव्य लुप्त हो जाता है। द्रव्य कहाँ गया? यह लुप्त होकर ऊर्जा या शक्ति बन गया। यह शक्ति ही सूर्य्य बराबर हम तक पहुँचा रहा है। इस हाइड्रोजन से जो बम तैयार किये जायँगे वे परमाणु-बम से सौगुने अधिक भयंकर होंगे। न्यूयॉर्क ऐसा नगर क्षण भर में इनसे विध्वस्त हो जायगा।

—

१४—पेट्रोल और पॉवर-एलकोहल

उन दिनों का तो स्मरण कीजिये जब मिट्टी के तेल का व्यवहार नहीं किया जाता था। लेखक ने अपने प्रारम्भिक दिनों में अपने समस्त कामों के लिये अंडी के तेल, सरसों के तेल और नीम के तेल के दिये जलाये हैं। जलाने के काम में अब भी इस देश में इन तेलों का अधिक व्यवहार किया जाता है। दिवाली के दिये तो लगभग इन्हीं तेलों से जलते हैं। पर यूरोप और अमरीका के निवासी उन दिनों की कल्पना भी नहीं कर सकते जब मिट्टी के तेल का व्यवहार लोगों ने नहीं सीखा था, या जिस समय बिजली का प्रचार न था।

पर आप समझते होंगे कि मिट्टी के तेल का व्यवसाय मिट्टी के तेल से जलने वाली लालटेनों पर निर्भर है। यह बात सर्वथा मिथ्या है। अगर संसार में मिट्टी के तेल का एक दिया भी न रह जाय, तब भी मिट्टी के तेल का व्यापार इतने ही ज़ोरों से चलता रहेगा। पेट्रोलियम या मिट्टी के तेल के तो विविध उपयोग हैं। बड़े-बड़े नगरों में जलाने के काम की गैस इसी से बनती है। कॉलेजों की प्रयोगशालाओं में जो गैस बर्नरों में जलायी जाती है वह यही है। मोमबत्तियों का मोम भी तो मिट्टी के तेल से ही निकलता है। बिजली की रोशनी के लिये जिस कार्बन या कोयले का उपयोग होता है वह भी इसीसे बनाया जाता है। कारखानों की

मशीनों के पुर्ज़ों को चिकनाने वाला तेल-लुब्रिकेटिंग ऑयल-भी इसी की कृपा का फल है; यदि यह न हो तो मशीनें अधिक समय काम न कर सकें और उनके पुर्ज़े कट जायँ। और फिर यह भी तो सोचिये कि आपकी मोटरें और हवाई जहाज़ कैसे चलते यदि पेट्रोलियम न होता। रूस, फारस, अमरीका और बर्मा आज युद्ध के दिनों में मिट्टी के तेल के कारण कितने महत्व के हैं, यह बात बताने की आवश्यकता ही नहीं। हर देश यह चाहता है कि दूर-दूर की मिट्टी के तेल की खानों पर उसका प्रभुत्व रहे।

मिट्टी के तेल का उपयोग तो इस युग में इतना है, पर यह न समझना चाहिये कि मनुष्य इसका सदा से व्यवहार करता आया है। पुराने लोगों को इससे परिचय तो अवश्य था। चट्टानों में से बहते हुये तेल का उल्लेख यूनान की पुरानी किताबों में भी, किया गया है। मारकोपोलो (१३ वीं शताब्दी का प्रसिद्ध यात्री) ने इस घटना का वर्णन दिया है कि दूर-दूर से लोग मिट्टी का तेल लेने बाकू आया करते थे। मिट्टी के तेल के उड़ जाने पर जो काली गाज या कीच (पिच) बच जाती है उसका उपयोग नूह के आर्क के भवन बनाने में हुआ था। इरावदी नदी के तट पर बर्मा के तेल के कुँये प्राचीन समय से प्रसिद्ध रहे हैं, और चीन देशवासी भी मिट्टी के तेल के कुँओं से कई हज़ार वर्ष से परिचित रहे हैं।

पेट्रोलियम के वर्त्तमान युग का आरम्भ अमरीका के संयुक्त राज्य से होता है। १८ वीं शताब्दी में नमक के सोतों की खोज करते करते लोगों ने यह देखा कि कुछ सोतों के नमक में बदबूदार तेल की तरह की कोई चीज़ मिली रहती है। ये सोते नमक के काम के लिये बेकार घोषित कर दिये गये। सन् १८३१ में मैंडल (Mandal) नामक एक शिकारी रात को जगल में अकेला सो रहा था। अकस्मात् पास में रक्खी हुई उसकी बन्दूक धोखे से

अपने आप छूट गयी। ज़मीन में जहाँ गोली धँसी, वहाँ पर दूसरे दिन उसे कुछ दुर्गन्धमय तेल निकलता हुआ दिखाई पड़ा। बाद को जब उसने आग जलाई, तो इसकी कुछ चिनगारियाँ उस स्थान तक पहुँच गईं, और वहाँ ज़ोरों की ज्वाला जल उठी। इसके बाद मिट्टी के तेल के कुओं की खोदाई आरंभ करने का विचार होने लगा। १८५१ में फेरिस (Ferris) नामक एक अमरीकन ने पेट्रोलियम शोधने की एक विधि निकाली। १८५६ में कर्नल ड्रेक ने संयुक्त राज्य अमरीका में पहला कुआँ खोदवाया। इस समय के अनन्तर कुयें खोदने की कला ने वैज्ञानिक रूप धारण कर लिया, और आज तो यह इस युग का प्रधान अंग बन गई है।

अमरीका में ही नहीं, प्रत्युत संसार भर के संभवनीय स्थानों में मिट्टी के तेल की खोज की गई। गड़रिये उन स्थानों से परिचित थे जहाँ मिट्टी के तेल के सोते या तलबियाँ थीं। वे भेड़ बकरियों को हाँक कर ऐसे स्थानों पर ले जाते थे, और रात के समय मिट्टी का तेल जला कर आगी तापते थे। कॉकेशस में पारसियों की एक मूर्ति थी जहाँ एक दिया ईसा मसीह के जन्म के बहुत पूर्व से अभी हाल तक जलता रहा था। यह अग्नि पूजक पारसियों का एक तीर्थ-स्थान बन गया था।

आजकल मिट्टी के तेल की विशेष खानें संयुक्त राज्य अमरीका, रूस, रूमानिया, ऑस्ट्रिया-हंगेरी, बर्मा और ईस्ट इंडीज़ में हैं। मैक्सिको, पेरू, आसाम, जापान, जर्मनी, वेस्टइंडीज़ और फारस में भी काफ़ी तेल होता है। जब इन देशों का तेल समाप्त हो जायगा, तो अन्य स्थानों पर तेल की खोदाई का कार्य आरम्भ किया जायगा क्योंकि, विश्वास यह है कि, संसार में इतना पेट्रोलियम है कि शताब्दियों तक काम दे सके। इस महायुद्ध में पेट्रोल का खर्चा हवाई-जहाज़ों में बहुत बढ़ गया है। तेल की कमी की आशंका से

रसायनज्ञों ने कृत्रिम रासायनिक विधियों से तेल बनाने की विधियों का भी आविष्कार किया है जिसका सूक्ष्म उल्लेख हम आगे करेंगे।

तेल की खानों की सैर

आइये, हम आपको मिट्टी के तेल की खानों की सैर करायें। जिन क्षेत्रों में तेल पाया जाता है उन्हें तेल-क्षेत्र या ऑयल फ़ील्ड कहते हैं। तेल के ये क्षेत्र दूर से ऐसे दिखाई पड़ेंगे मानों कोई जंगल आग से जला कर काला कर दिया गया है। बात यह है कि तेल के प्रत्येक कुँए के ऊपर लकड़ी के काले पटरों अथवा लोहे की धन्नियों की चिनाई करके एक मढ़ैया बना दी जाती है। इस मढ़ैया को 'डेरिक' कहते हैं। प्रत्येक क्षेत्र में अनेक कुँये होते हैं, और सब पर बनी डेरिकें काली-काली दूर से ऐसी लगती है मानों जले हुये जंगल के काले ठूँठ खड़े हों।

ये डेरिक अच्छे दृढ़ बनाये जाते हैं। इनके ही बल पर भारी-भारी वे सब यंत्र कुँयें में उतारे जाते हैं जिनसे कुँए की खोदाई, सफ़ाई अथवा तेल की खिंचाई की जाती है। अच्छा, अब आप इन कुँओं के निकट पहुँच रहे हैं। आपको सावधान होकर चलना है, क्योंकि सड़कें तो हैं ही नहीं, केवल कुछ पगडंडियाँ हैं, और मार्ग में दायें-बायें कीचड़ और दलदल वाले गड्ढे हैं जिनमें दुर्गन्ध भी निकल रही है। सावधान रहिये, नहीं तो कहीं इनमें से किसी गड्ढे में आपका पैर न चला जाय! आइये, अब डेरिक के द्वार पर एक क्षण रुकें। भीतर से आवाजें आ रही हैं, मज़दूर लोग कुँए में से ड्रिल ऊपर खींच कर बाहर कर रहे हैं। यह ड्रिल कुँआ गहरा करने के लिए नीचे उतारी गयी थी। एक आदमी

आपको पास जाने से रोकेगा। आपके देखते देखते ड्रिल भीतर का कीचड़ लिये हुये ऊपर आ ही तो गयी।

जब पता चल जाता है कि अमुक स्थान पर तेल की खान है, तो उस स्थान पर एक गहरा छेद करते हैं। छेद करने वाले यंत्र का नाम "स्पड" है। स्पडों से छेद थोड़ी दूर तक होता है, और यह छेद नीचे तेल के सोते तक जिस यन्त्र द्वारा पहुँचाया जाता है उसे "ड्रिल" कहते हैं। अगर आप ने अपने नगरों में ट्यूब वेलों की खोदाई होते देखा हो तो आपको इस खोदाई का कुछ अनुमान हो सकता है। तेल का कुआँ इस सफाई से खोदा जाता है और उसमें ऐसा प्रबन्ध होता है कि यदि कुएँ की खोदाई के मार्ग में पानी का कोई सोता आ जाय, तो उसका पानी तेल में न मिलने पाये। अगर तेल में पानी मिल जायगा तो उसको अलग करने में व्यर्थ बहुत खर्चा बैठेगा।

तेल के सोतों के भीतर सैकड़ों वर्षों से बन्द गैस का दबाव इतना अधिक होता है कि कभी कभी खोदाई होने पर सोते का मुँह खुलते ही तेल इतने जोरों से ऊपर आता है कि उसे वश में करना कठिन हो जाता है। सैकड़ों गैलन तेल व्यर्थ ज़मीन पर बह जाता है। ऐसी अवस्था में चमड़े के वस्त्र पहने हुये और लोहे के टोपे लगाये हुए लोग कुएँ के मुख के पास साहस करके जाते हैं, और कुएँ के मुख पर लोहे की टोपियाँ लगा आते हैं। इस प्रकार तेल के प्रवाह को अपने वश में करते हैं।

मिट्टी के तेल के कुओं में भी यंत्र टूट कर गिर पड़ते हैं, और जिस प्रकार काँटों में फँसा कर हम अपने कुँए में से लोटे या कलसे ऊपर निकालते हैं, उसी प्रकार इन यन्त्रों को ढूँढ़ने और ऊपर खींचने के लिये ग्रेब और स्पीयर बनाये गये हैं। कभी-कभी तो घंटों तक ढुँढ़ाई करनी पड़ती है, और तब कहीं वह खोया हुआ यंत्र

ग्रैब या स्पीयर में फँसने पाता है। जैसे ही फँसा, खींच कर उसे ऊपर निकाल लेते हैं।

कुँए में से तेल निकालना

ड्रिल से कुआँ खुदता गया, पर अभी इसकी सफाई करनी है। इस काम के लिए जिस "क्लीनर" नामक यन्त्रों का उपयोग करना होता है, उनके पेंदे में भीतर की ओर खुलने वाले वाल्व लगे होते हैं। मिट्टी-बालू, कूड़ा-कचरा इन क्लीनरों में आ जाता है, और बाहर फेंक दिया जाता है। कभी-कभी बालू ऊपर फेंकने के लिये सैण्ड-पम्पों का भी उपयोग करते हैं।

कुआँ जब साफ हो गया, तो इसमें तेल के सोते तक एक मोटा नल लगाते हैं, और पम्प की सहायता से तेल ऊपर तक चढ़ा कर लाया जाता है। कुएँ ५०० से ४००० फुट तक की गहराई के होते हैं। ध्यान रहे कि पानी के कुएँ ७०-८० फुट से अधिक गहरे बहुत कम होते हैं। कभी-कभी मिट्टी के तेल के सोते के पास इतनी बालू होती है कि पम्प से तेल ऊपर नहीं चढ़ पाता। ऐसी अवस्था में "बेलरों" की सहायता से तेल ऊपर चढ़ाया जाता है। बेलर में ५०-६० फुट लंबी नली होती है, और इसमें भीतर की ओर खुलने वाला वाल्व लगा होता है। तेल के दबाव से वाल्व खुल जाता है, और बेलर में तेल भर जाता है, और फिर ये बेलर खींच कर बाहर निकाल लिये जाते हैं। इनका तेल 'बेलिंग-टब' में उँडेल दिया जाता है। तेल में मिली हुई बालू नीचे टब में बैठ जाती है। बाद को साफ़ तेल टंकियों में पहुँचा दिया जाता है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि नीचे तक कुआँ खोदने पर भी तेल रिस-रिस कर बाहर आता है, और इसकी गति इतनी कम होती है कि पम्प या बेलर से तेल खींचना संभव नहीं होता। ऐसी

अवस्था में कुयें में 'गोली दाग़ने' की आवश्यकता पड़ती है। एक टोरपीडो, जो ४-५ इंच व्यास की, और ५-२० फ़ुट लंबी होती है, कुयें में नीचे उतारते हैं। इसमें २०-६० क्वार्ट तक नाइट्रोग्लिसरीन (डायनेमाइट) भरी होती है। इस पर जैसे ही बालू के भीतर चोट लगाई जाती है, जोर का विस्फोट होता है, और तेल के सोते का मुँह खुल जाता है, और फिर तेल मुक्त-रूप से बहने लगता है। अब बेलर या पम्प से इसे ऊपर ला सकते हैं।

कुयें में से तेल बाहर लाने के लिये संकुचित वायु का भी बहुधा उपयोग करते हैं। कुयें में नल लगे हुये हैं, और ये नल टंकी तक संयुक्त हैं। आपको देख कर आश्चर्य होगा कि नलों में से तेल बराबर बहता चला आ रहा है, पर न वहाँ कोई तेल खींचने वाला है, न कोई पम्प ही चल रहा है। बात यह है कि नल के साथ संकुचित हवा का संयोग कर दिया गया है, यह हवा दबाव डाल कर तेल को नल में बराबर ऊपर चढ़ा रही है, और तेल नल में से बहता चला आ रहा है।

कुयें में से तेल निकालने की और भी मनोरञ्जक विधियाँ है। एक विधि में तो तेल के कुयें में हवा ज़ोरों से बुदबुदाई जाती है। जैसे टब में भरे पानी के भीतर धौंकनी से हवा पहुँचाओ, तो पानी ऊपर उठ कर टब से बाहर गिरने लगेगा, उसी प्रकार हवा के बुद-बुदाने पर तेल ऊपर उठने लगता है, और कुयें से बाहर निकल आता है। एक विधि इस प्रकार है कि छोर-रहित चमड़े या फेल्ट की लम्बी पट्टियाँ चरखी द्वारा तेल के कुयें के भीतर जाती हैं। ये तेल से भीग जाती हैं। जैसे ही ये ऊपर आती हैं, रोलरों के बीच दबा कर इनका तेल निचोड़ लिया जाता है।

मिट्टी के तेल से पेट्रोल

मिट्टी का तेल दो प्रकार का बाज़ार में मिलता है—एक तो

लाल तेल और दूसरा सफ़ेद। लाल तेल साफ करके सफ़ेद तेल बनाते हैं। यह लालटेनों में जलाने के काम का होता है। कुयें से जो तेल निकलता है वह गाढ़ा होता है, और उसका रंग हरा, पीला या भूरा होता है और गन्धक के यौगिकों के मिले रहने के कारण इसमें तीक्ष्ण दुर्गन्ध होती है। इस तेल की सफ़ाई का काम बहुधा तेल-क्षेत्रों में नहीं किया जाता। क्षेत्रों में बनी हुई बड़ी टंकियों में यह भरा जाता है और वहाँ से नलों या गाड़ियों द्वारा दूरस्थ शोधक-गृहों में शोधन के लिये भेजा जाता है। उदाहरणतः येननग्याँग की खानों में से निकला तेल शोधन के लिये रंगून भेजते हैं और पंजाब की खानों का तेल रावलपिंडी में अटक ऑयल कंपनी द्वारा शोधित होता है।

शोधक गृहों में तेल को लोहे के बने बड़े भभकों में चुआया जाता है। तेल को भभकों में गरम करते हैं। जैसे-जैसे गरम करते हैं, इसमें से उड़नशील गैसें, जो कार्बन और हाइड्रोजन की बनी होने के कारण हाइड्रोकार्बन कहलाती हैं, उठने लगती हैं। इन गैसों को कुंडलाकार नलियों में प्रवाहित करके ठंढा किया जाता है। हलकी गैसें सबसे ऊपर उठती हैं, उन्हें अलग ठंढा करते हैं। भारीपन के हिसाब से तेल की भापों को कई श्रेणियों में अलग-अलग तापक्रम पर चुआया जाता है। हलकी गैसें कुंडलियों को ठंढे पानी में रखकर चुआई जाती हैं, और उनसे जो पदार्थ मिलता है उसे *नैपथा* कहते हैं। इससे अधिक भारी गैसों को चुआने से *कैरोसीन ऑयल* (या जलाने के काम का मिट्टी का तेल) मिलता है। और भारी गैसें चुआने पर हलका लुब्रिकेटिंग ऑयल या मशीन का तेल मिलता है। और भारी जो अंश रह गया वह ऊँचे तापक्रम पर चुआया जाता है और इससे *भारी तेल* और *पैराफिन* प्राप्त होता है।

नैपथा को फिर सावधानी से चुआते हैं। इससे तीन पदार्थ मिलत हैं। सबसे हलके का नाम *पेट्रोलियम ईथर* या *लियोइन* है जिसका उपयोग रबर घोलने के काम में और वार्निशों में होता है। बीच के पदार्थ का नाम *पेट्रोल* या *गैसोलीन* है जिसे मोटर और हवाई जहाज में काम में लाते हैं। तीसरे भारी अंश को *बेंज़ाइन* कहते हैं जो तारपीन के तेल के समान वार्निशों के काम का है।
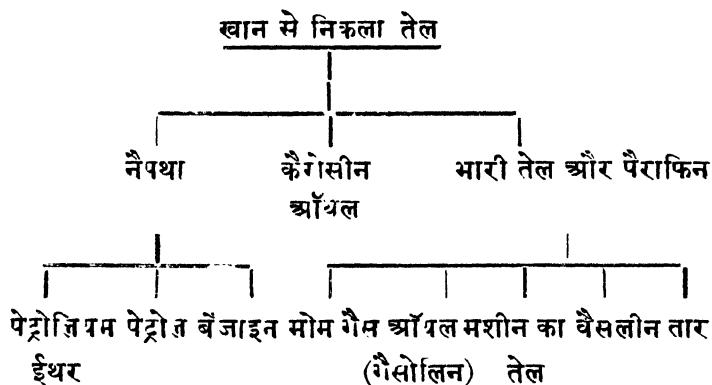
कैरोसीन आयल की और सफाई करते हैं। इसमें थोड़ा सा गन्धक का तेज़ाब मिलाया जाता है और फिर हवा प्रवाहित करके इसे खलबलाते हैं। ऐसा करने से इसका काला मैल नीचे बैठ जाता है और जो पेंदे में लगे हुये नल द्वारा निकाल दिया जाता है। फिर इसे पानी और सोडा के घोल से धोते हैं। इन सब क्रियाओं से सफेद शुद्ध मिट्टी का तेल प्राप्त होता है।

भारी तेल या पैराफिन वाले अंश को बर्फ में ठंढा करने से जो ठोस पदार्थ जमा हुआ मिलता है उसे *पैराफिन मोम* कहते हैं। इसे अलग कर लेते हैं, और बचे हुये तेल को भाप के साथ फिर चुआते हैं। सबसे पहले चुये हुये भाग में ईंधन तेल या गैस ऑयल

होता है। इसे डीज़ेल इंजिनों के चलाने में काम लाते हैं। आग से इसे चटखा कर इससे *ऑयलगैस* और *गैसोलिन* भी बनाते हैं। ऑयल गैस के बाद के अंश से मशीन का तेल प्राप्त होता है। तीसरे अंश से *वैसलीन* मिलती है जो मलहम बनाने के काम में और अन्य अनेक उपयोगों में आती है। अन्त में जो काला-काला पदार्थ रह जाता है वह *तार* (कोलतार के समान) है। आजकल इस *तार* से फिर पेट्रोल तैयार करने की रासायनिक विधि निकाली गई है।

औटो-इञ्जिन का आविष्कार

केरोसीन तेल का उपयोग तो लालटेनों के जलाने में है। पर मिट्टी के तेल के कारखानों की उपयोगिता इतनी न होती यदि हवाई जहाज़ चलाने वाले इंजिनों का आविष्कार न होता। इंजिनों के आविष्कार की कहानी बहुत पुरानी है। सन् १६८० में हायगेन्स (Huygens) ने पिस्टन और सिलेंडर के प्रयोग से इंजिन तैयार करने की बात सोची, और बारूद के ज़ोर से पिस्टन चलाना चाहा। पिस्टन को हर बार चलाने के लिये नयी बारूद सुलगानी पड़ती थी, और इसलिये यह इंजिन सफल न हो सका। १९ वीं शताब्दी के युग में अनेक ऐसी गैसें सुलभ हो गयीं जिनका प्रयोग इंजिनों में किया जा सकता था, अतः इंजिनों के निर्माण का काम तेज़ी से चला। आजकल दो प्रकार के इंजिनों का विशेष प्रचार है। एक का नाम औटो-इंजिन है जो *स्थिर आयतन* पर गरमी ग्रहण करता है और दूसरे का नाम डीज़ेल इंजिन है जो *स्थिर दबाव* पर गरमी ग्रहण करता है। आजकल काम में आने वाले ८०% इंजिन औटो की पद्धति के हैं। हम इस बात का थोड़ा सा विवरण देंगे कि ये इंजिन किस प्रकार काम करते हैं।
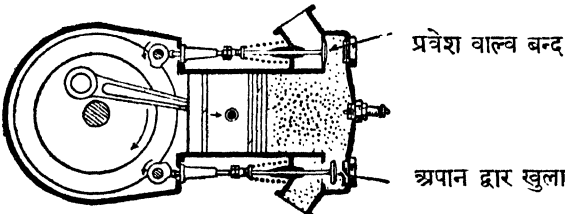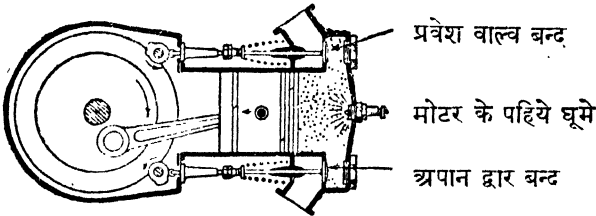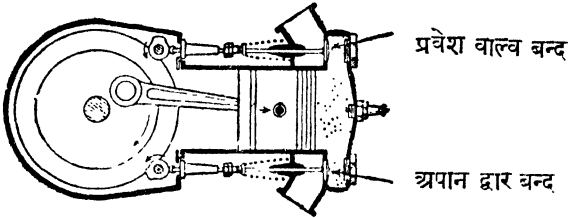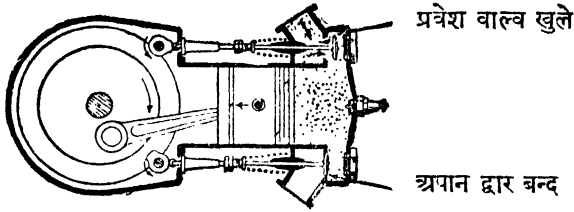
चित्र १०७—कोई भी इंजिन कैसे काम करता है। इसके चार स्ट्रोक।
(औटो चक्र)

यह याद रखना चाहिये कि हर इंजिन में एक सिलेंडर और

एक पिस्टन होता है। समझिये कि जैसे यह सायकिल के पम्प या पिचकारी के समान है। पम्प का बाहरी भाग जो बेलन के समान लम्बा है सिलेंडर कहलाता है। इस पोले बेलन के भीतर हवा भरने का जो डट्टा खींच और दबाकर ऊपर नीचे खिसकाया जाता है उसे पिस्टन कहते हैं। पम्प का पिस्टन हाथ से चलाते हैं, पर इंजनों का पिस्टन अपने आप आगे पीछे चलता रहता है। औटो इंजिन में यह बात कैसे होती है, यह बात नीचे के चार चित्रों से समझ में आ जायगी। (चित्र १०७)

इंजिन में पाँच विशेष अंग हैं। (१) एक प्रवेश वाल्व जलनशील गैस भीतर जाने के लिये, (२) एक प्रवेश वाल्व हवा भीतर जाने के लिये, (३) एक वाल्व जलने के बाद जो धुआँ बना उसे बाहर निकालने के लिये। इसे इक्ज़ास्ट या अपान-द्वार कहते हैं, (४) सिलेंडर और (५) पिस्टन।

पहली अवस्था—पिस्टन को बाहर खींचा गया। ऐसा करने से सिलेंडर के भीतर का दबाव कम हो गया और इस कारण गैस और हवा जाने के प्रवेश वाल्व खुल गये। वे वाल्व भीतर की तरफ खुलते हैं, पर अपान-द्वार का वाल्व बाहर की ओर खुलता है, इसलिये यह बन्द हो गया। इस प्रकार सिलेंडर गैस और हवा के मिश्रण से भर गया।

दूसरी अवस्था—पिस्टन दूसरे स्ट्रोक में भीतर की ओर घुसा और उसने भीतर की हवा और गैस को संकुचित किया। अन्दर दबाव बढ़ जाने पर अब तीनों वाल्व बन्द हो गये। सिलेंडर के भीतर आयतन पहले का १/५ हो गया। इतना संकोचन होने पर भीतर की गैसें गरम हो उठीं, जैसे पम्प कई बार चलाने पर गरम हो उठता है। तापक्रम ६००° के लगभग हो गया।

इस संकोचक स्ट्रोक के बाद हवा और गैस के मिश्रण में चिनगारी द्वारा आग लगा दी जाती है।

तीसरी अवस्था—आग लगते ही गैस भभक उठती है। इतनी गरमी पैदा होती है कि एकदम गैसें ज़ोर से फैलती हैं, और उनके दबाव से पिस्टन पीछे को हटता है। जलती हुई गैसों का तापक्रम २००° के लगभग होता है। पीछे हटता हुआ यह पिस्टन मोटर के पहियों को गति देता है।

चौथी अवस्था—गैसों के दबाव बढ़ जाने पर चौथे स्ट्रोक में अपान द्वार का वाल्व खुल जाता है, और गैसों के जलने से बना हुआ धुआँ बाहर निकल जाता है।

पिस्टन के स्ट्रोक इसी क्रम से बराबर काम करते रहते हैं। इस चक्र के अनुसार नयी ताज़ी गैस और हवा सिलेंडर में आती रहती है, और जलकर पिस्टन को काम करने योग्य गति देती रहती है। धुआँ बारी-बारी से बाहर निकलता रहता है। ऑटो-इंजिन की इस पद्धति पर तरह तरह के कामों के लिये तरह-तरह के इंजिन तैयार किये गये हैं। अगर इन इंजिनों का आविष्कार न होता, तो हमारी सभ्यता का आज रूप ही दूसरा होता।

यह याद रखना चाहिये कि ऑटो-इंजिन में सारा काम हवा ही करती है। पेट्रोल या उससे बनी गैस का काम तो केवल जल कर हवा को गरमी पहुँचाना है।

डीज़ेल इंजिन का आविष्कार

डीज़ेल इंजिन में भी ऑटो इंजिन के समान ५ अंग होते हैं—(१) सिलेंडर, (२) पिस्टन, (३) एक प्रवेश वाल्व शुद्ध हवा भीतर जाने के लिये, (४) एक प्रवेश वाल्व तेल के भीतर जाने के लिये और (५) एक वाल्व, अपान द्वार, धुएँ को बाहर निकालने के लिये। ऑटो इंजिन से डीज़ेल इंजिन इस बात में भिन्न है, कि इसमें पहले स्ट्रोक में केवल हवा भीतर ले जाते हैं, और दूसरे स्ट्रोक में हवा का संकोचन होता है। दबाव लगभग ६०० पौंड प्रति वर्ग इंच हो

जाता है। इतने दबाव पर होने के कारण हवा इतनी गरम हो जाती है कि तीसरे स्ट्रोक में छोड़ा गया तेल अपने आप बिना चिनगारी लगाये ही जल उठता है। तेल इतनी नियंत्रित मात्रा में सिलेंडर के भीतर पहुँचाया जाता है कि पिस्टन पर गैस का दबाव स्थिर रहे। तेल झींसी द्वारा कोहरे के रूप में भीतर पहुँचता है। तेल के जलने से गरमी पाकर हवा फैलती है और पिस्टन को पीछे ढकेलती है। पिस्टन की इस गति से मोटर चलने लगता है। इसी समय अपान द्वार खुल जाता है और भीतर का दूषित धुआँ बाहर निकल जाता है। पिस्टन के चक्र का क्रम बराबर इसी प्रकार चलता रहता है।

पहली अवस्था—पहले स्ट्रोक में पिस्टन नीचे आता है, और हवा भीतर जाने का प्रवेश वाल्व खुल जाता है। सिलेंडर हवा से भर जाता है।

दूसरी अवस्था—दूसरे स्ट्रोक में पिस्टन ऊपर उठता है, और हवा वाला प्रवेश वाल्व बन्द हो जाता है। हवा संकुचित हो जाती है, और दबाव बढ़ जाता है। हवा बहुत गरम हो जाती है।

तीसरी अवस्था—जैसे ही पिस्टन स्ट्रोक के ऊपर पहुँचता है, भीतर सिलेंडर में तेल झींसी से जाता है, तेल जलने लगता है और गैसें जोरों से फैलती हैं। पिस्टन सिलेंडर में नीचे गिर जाता है।

चौथी अवस्था—पिस्टन फिर ऊपर उठता है और इसी समय अपान द्वार खुल जाता है। धुआँ बाहर निकल जाता है।

डीज़ेल इंजिन के सिद्धांत का आविष्कार रूडोल्फ डीज़ेल (Rudolf Diesel) नामक जर्मन इंजीनियर ने १८९३ में किया था, पर उसके विचारानुसार सबसे पहला इंजिन १८९७ में तैयार हुआ।

भाप के इंजिन कोयले की सम्पूर्ण गरमी का ८-१० प्रतिशत भाग ही काम में परिणत कर सकते हैं। ऑटो पद्धति के गैस

इंजिनों में १८-२३ प्रतिशत गरमी काम में परिणत हो पाती है, पर डीज़ेल इंजिन में ३२-३५ प्रतिशत गरमी काम में परिणत होती है। इस बात में यह अन्य इंजिनों की अपेक्षा अधिक उपयोगी है। पर इससे यह नहीं समझना चाहिये कि डीज़ेल इंजिन भाप के इंजिनों के स्थानापन्न हो सकेंगे क्योंकि तेल की अपेक्षा कोयले का दाम बहुत सस्ता है।

इंजिनों के कार्बुरेटर

इंजिनों का वर्णन कार्बुरेटर के उल्लेख के बिना अधूरा ही रह जाता है। मोटर में अगर आपने सवारी की है, तो आपने शौफर से कार्बुरेटर का नाम अवश्य सुना होगा। यह तो आप जानते हैं कि मोटर के इंजिन में पेट्रोल का उपयोग होता है। यह मिट्टी के तेल के समान पतला एक द्रव पदार्थ है, क्या आपने मच्छर मारने वाली फ़ींसी या पिचकारी देखी है? इसमें मिट्टी के तेल का सा ही एक तरल पदार्थ भरा जाता है। पिचकारी से जब छोड़ते हैं तो यह तरल द्रव फौआरे की छोटी-छोटी बूँदों के रूप में—जैसे कोहरे के कण हों—छूटता है। कार्बुरेटर भी इसी प्रकार का एक यंत्र है जिससे हवा और पेट्रोल का मिश्रण कोहरे के समान छोटी-छोटी बूँदों में छितर जाता है। हवा और पेट्रोल इस अनुपात में मिल जाते हैं कि पेट्रोल के विस्फोट में सहायता मिले। अलग अलग तरह के इंजिनों के लिए अलग-अलग तरह के कार्बुरेटर बनाये गये हैं पर लगभग सब का आधारभूत सिद्धान्त एक ही है। हवा गैसोलीन या पेट्रोल में से पम्प द्वारा प्रवाहित होती है। कुछ पेट्रोल उड़कर और कुछ द्रव बूँदों के ही रूप में हवा के साथ चला आता है। किसी-किसी कार्बुरेटर में दो-दो वाल्वों द्वारा पेट्रोल निकलता है। एक से तो स्थिर मात्रा में और दूसरे से घटती-बढ़ती मात्रा में। मोटर की स्पीड (गति) कम

या अधिक करते समय हवा और पेट्रोल के मिश्रण का अनुपात इस प्रकार नियन्त्रित कर लिया जाता है।

गैसोलीन या पेट्रोल के लिये तो कार्बुरेटर से काम निकल जाता है पर कैरोसीन के समान भारी तेलों का उड़ाना इतना आसान नहीं है। जिन इंजिनों में भारी तेलों का उपयोग किया जाता है, उनमें कार्बुरेटर के स्थान पर 'वेपोराइज़र' यन्त्र होते हैं। हवा के दबाव से सिलेंडर में जो गर्मी पैदा होती है, कभी-कभी उसका ही उपयोग वेपोराइज़र में कर लेते हैं। वेपोराइज़र का सिद्धान्त यह है कि तेल को यदि कुछ गरम कर लिया जाय तो फिर यह आसानी से उड़ाया जा सकता है। कभी-कभी इतना गरम करना आवश्यक होता है कि तेल उबलने लगे। किसी-किसी वेपोराइज़र में गरम प्लेट पर तेल चुआया जाता है, जैसे गरम तवे पर घी। तेल छनछना कर उड़ जाता है और हवा के साथ मिल कर इसका विस्फोट मिश्रण तैयार करते हैं।

पावर एलकोहल

मोटरों और हवाई जहाज़ों में पेट्रोल का खर्चा इतना अधिक है कि संभवतः मिट्टी के तेल की खानों से अकेला काम न चल सके। युद्ध के दिनों में तो हर एक देश को पेट्रोल काफ़ी मिल भी नहीं पाता। यह स्वाभाविक है कि ऐसी स्थिति में किसी और चीज़ से वही काम निकाला जाय जो पेट्रोल से निकलता है। इधर कुछ दिनों से यह पता लगा कि मोटर चलाने के इंजिनों में अत्यन्त शुद्ध एलकोहल न केवल अच्छा, बल्कि सस्ता भी पड़ता है। ऐसे अत्यन्त शुद्ध एलकोहल में जिसमें पानी बिलकुल भी न हो 'पावर एलकोहल' कहते हैं। पावर एलकोहल का यदि प्रयोग करना हो तो इंजिन को गैसोलीन से स्टार्ट करने की आवश्यकता पड़ेगी। एक बार जब इंजिन चलने लगे तो फिर और गैसोलीन खर्च नहीं करनी पड़ेगी। अच्छा तो यह होता है कि शुद्ध एलकोहल में १०

प्रतिशत गैसोलीन या पेट्रोल की मात्रा मिला दी जाय। यह मिश्रण मोटर और हवाई जहाज़ों के लिए अत्यन्त उपयोगी माना जाता है।

कुछ समय पूर्व जल-रहित शुद्ध एलकोहल तैयार करना बड़ा कठिन था। जल-रहित एलकोहल को ऐब्सालयूट-एलकोहल या निरपेक्ष मद्यसार भी कहते हैं। एलकोहल का पानी के प्रति इतना स्नेह और आकर्षण है कि यह हवा तक में से पानी सोख लेता है और भभके द्वारा इसमें से पूरा पानी अलग कर देना संभव नहीं है। इधर बेंज़ीन की सहायता से इसके शोधन की एक विधि निकली है। ऐसे एलकोहल में जिसमें कुछ ही पानी हो बेंज़ीन मिलाते हैं, और फिर भभके में से चुआते हैं। ऐसा करने से शुद्ध बेंज़ीन और एलकोहल का मिश्रण प्राप्त होता है जिसमें पानी बिलकुल भी नहीं होता। इस मिश्रण में से बेंज़ीन आसानी से पृथक् कर दिया जाता है और जल-रहित शुद्ध एलकोहल मिलता है। जब से इस विधि का आविष्कार हुआ है, अमरीका में ५-१० सैंट (३ आने से ६ आने) प्रति गैलन खर्चे से एलकोहल तैयार किया जा सका है। जर्मनी में ७-८ आने गैलन के हिसाब से यह बिकता भी है। एलकोहल आलू, चुकन्दर, लकड़ी का बुरादा, अन्न, और शक्कर के कारखानों के सीरे से बृहद् परिमाण में खमीर उठा कर तैयार किया जा सकता है। अगर हमारे देश में पावर एलकोहल के कारखाने शक्कर के कारखानों के पास खुल जायँ तो इस देश को बर्मा, फारस, रूस या अमरीका के पेट्रोल का आश्रय अधिक न लेना पड़े। पावर एलकोहल का अन्वेषण इस युग के अन्वेषणों में एक विशेष स्थान रखता है। पेट्रोल की अपेक्षा एलकोहल में यह भी एक विशेषता है कि जलने पर इसके धुएं में कालिख बहुत ही कम बनता है— पेट्रोल के धुएँ में तो बहुत ही कालिख होती है।

१५—सीमेंट और लोहे के चमत्कार

वास्तु-कला में एक नया युग

हमारे देश में ऐसे सैकड़ों महल और क़िले होंगे जो हज़ार पाँच सौ वर्षों से अब तक मज़बूत खड़े हुये हैं। राजपूतों के समय में और मुग़ल साम्राज्य के दिनों में इस देश में सुदृढ़ क़िले बनाने की विशेष आवश्यकता पड़ी। दक्षिण भारत में कई शताब्दियों पुराने सुदृढ़ मन्दिर भारतीय कला के अब भी आदर्श माने जाते हैं। ये अधिकांश भवन पत्थरों के बनाये जाते थे, और आज यह कहना भी कठिन है कि कई पत्थरों को परस्पर जोड़ने के लिये तब कौन सा ऐसा मसाला काम में आता था जिसने इन भवनों को इतनी दृढ़ता दी। विशाल दुर्ग और उनके चौड़े चौड़े परिकोटे आज भी देखते बनते हैं।

राजपूताने के महलों की दीवारों पर सुन्दर स्वच्छ शिलखड़ी का अस्तर किया हुआ है, जिससे दीवारें दूर से संगमरमर की सी प्रतीत होती हैं। चौड़े-चौड़े ऊँचे भवनों की छतों की दृढ़ता गोल मेहराबों के कारण है। यह तो लोगों को सदा अनुभव रहा है कि चौरस छत कमजोर होती है, पर गोल मेहराब दे दी जायँ तो छतें सुदृढ़ बनी रह सकती हैं। इन पुराने मकानों में पत्थर चूने का

ही काम अधिक है। उस समय संभवतः इतना लोहा तैयार नहीं किया जाता था कि दृढ़ मकानों के निर्माण के लिये इसका उपयोग किया जा सके। पीज़ा की टेढ़ी मीनार वास्तु-कला का सुन्दर नमूना है। पर वैज्ञानिक युग ने लोहे के बड़े बड़े कारख़ाने खोले, और आज तो लोहा इतना सर्वव्यापी हो गया है कि इसके बिना कोई काम ही नहीं हो सकता। लोहे का राज्य देखना हो तो रेल के किसी बड़े स्टेशन पर चले जाइये। हज़ारों मील लम्बी लोहे की पटरियाँ, उन पर दौड़ने वाली लोहे की गाड़ियाँ, लोहे के बने हुये पुल, और क्या नहीं, सभी कुछ लोहे का प्रतीत होगा। पर इससे भी अधिक आश्चर्य तो यह है, कि यदि आप की आँखें दीवारों और छतों के भीतर प्रविष्ट हो सकें, तो आप देखेंगे कि उनके भीतर भी लोहे के गर्डरों, और छड़ों का जाल सा बिछा हुआ है। बंबई के ८-१० मंज़िल ऊँचे मकान, और अम-

चित्र १०८—पीज़ा की टेढ़ी मीनार
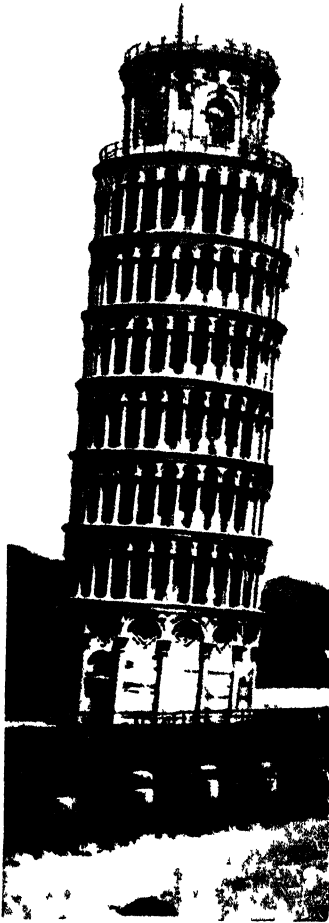
रीका के ३०-४० मंजिल ऊँचे आकाशचुम्बी भवन ऊपर से नीचे तक लोहे के आश्रय पर खड़े हुये हैं।

चित्र १०९—एरफुर्ट (जर्मनी) के स्कूल की सुदृढ़ वेधशाला

अकेले लोहे के उपयोग से इस कला में इतना युगकारी परिवर्त्तन न हो पाता, यदि इसके साथ-साथ सीमेंट या कंकरीट का

आविष्कार न होता। सीमेंट का आविष्कार इस युग की एक बड़ी भारी देन है। जब से सीमेंट का प्रचार हुआ है, पत्थर का काम पिछड़ गया है। बाज़ार में जो सीमेंट बिकती है उसमें पोर्टलैंड सीमेंट का नाम अति प्रसिद्ध है। इसका आविष्कार एक कुम्हार जॉसेफ ऐस्पडिन (Joseph Aspdin) ने (जो सन १८११ में लीडस में पैदा हुआ था) किया था। इंगलैंड के पोर्टलैंड आइल में जो चूने का पत्थर मिलता था, ठीक उसी प्रकार यह सीमेंट जम जाने पर प्रतीत होती थी, और इसीलिये इसका नाम पोर्टलैंड-सीमेंट पड़ा। आरंभ में तो यह सीमेंट ३ भाग सफ़ेद खड़िया और १ भाग चिकनी मिट्टी या नदी की मिट्टी को मिलाकर भट्टी में फूँक कर बनाई गई।

आजकल यह सीमेंट चूने के पत्थर और मिट्टी को घूमती हुई भट्टी या इस्पात के बेलनों के भीतर रख कर फूँक कर बनाते हैं। ये बेलन बहुधा २५० फुट लम्बे और १२ फुट व्यास के होते हैं। मशीन में इस प्रकार का क्रम होता है कि तैयार सीमेंट एक ओर से बाहर निकलती रहे, और दूसरी ओर से सीमेंट तैयार करने का कच्चा माल बेलन के भीतर पहुँचता रहे। भट्टी को बीच में ठंढे करने की आवश्यकता न पड़े। बेलन के भीतर हवा के प्रवाह के साथ कोयले का चूर्ण भी भेजते रहते हैं, जिससे फुँकाई अच्छी प्रकार हो। बेलन में से निकली हुई तैयार सीमेंट ढोकों के रूप में होती है। इन्हें ठंढा करके चक्की में मैदा के समान महीन पीस डालते हैं। इसे फिर इतनी महीन चलनी में छानते हैं जिसके प्रति वर्ग इंच में दस हज़ार छेद होते हैं। सीमेंट जितनी ही महीन होगी, इसमें उतनी ही दृढ़ता आवेगी।

हमारे देश में अब तो सीमेंट के अनेक कारखाने हैं। डालमिया का बिहार का कारख़ाना और कटनी आदि नगरों के मध्य प्रदेशीय कारख़ाने अति प्रसिद्ध हैं।

सीमेंट में यह विशेषता है, कि पानी में सान कर यदि इसे हवा में खुला छोड़ दिया जाय, तो थोड़े ही समय में यह मजबूत जम जायगी। जैसा काम लेना हो, उसके अनुसार १ भाग सीमेंट में २, ३ या ४ भाग मोटी बालू मिलाते हैं। फिर इस मिश्रण में पानी मिला कर गारे या चूने के समान सान लेते हैं। यह याद रखना चाहिये कि सीमेंट १० मिनट से लेकर आध घण्टे के भीतर ही जमने लगती है, अतः उतनी ही सीमेंट साननी चाहिये जो आध घण्टे के भीतर ही खप सके। अधिक देर भीगी रक्खी गई सीमेंट में जान नहीं रहती। सीमेंट से बनाई गई चीजों को कई दिन तक पानी से बराबर तर रखना आवश्यक है। जितनी ही अधिक तर रक्खेंगे, उतनी ही मजबूत जमेगी, और फटने की आशंका नहीं होगी।

मकानों के बनाने में ईंट या पत्थर की गिट्टी का उपयोग चूने आदि मसाले के साथ बहुत प्राचीन काल से होता रहा है। लोहे के साथ कंकरीट मिलाने की प्रथा आजकल की नयी है। यों तो सन् १८०१ ई० में मैंचेस्टर में कपड़े के कारखाने की इमारत लोहे की बनायी गयी—ऊपर छत की धन्नियाँ और खंभों में लोहा दिया गया। फ्रांस के कुछ पुराने गिरजाघरों और म्यूनिसिपल भवनों में केवल लोहे का उपयोग किया गया, पर 'फैरो-कंकरीट' जिसे रीनफोर्स्ड कंकरीट भी कहते हैं बहुत समय बाद उपयोग में आयी। सन् १८७६ की फिलाडेलफिया (अमरीका) की प्रदर्शनी में रीनफोर्स्ड कंकरीट के कुछ नमूने कौतूहल के लिये प्रदर्शित किये गये थे। उस समय किसी को यह विश्वास न था, कि इस लोहे-मिली-कंकरीट का प्रचार भविष्य में इतना अधिक हो जायगा।

फैरो-कंकरीट के आधुनिक इतिहास की कहानी भी कम मनोरंजक नहीं है। इसका आरंभ एक व्यक्ति के पागलपन से हुआ। सेंट
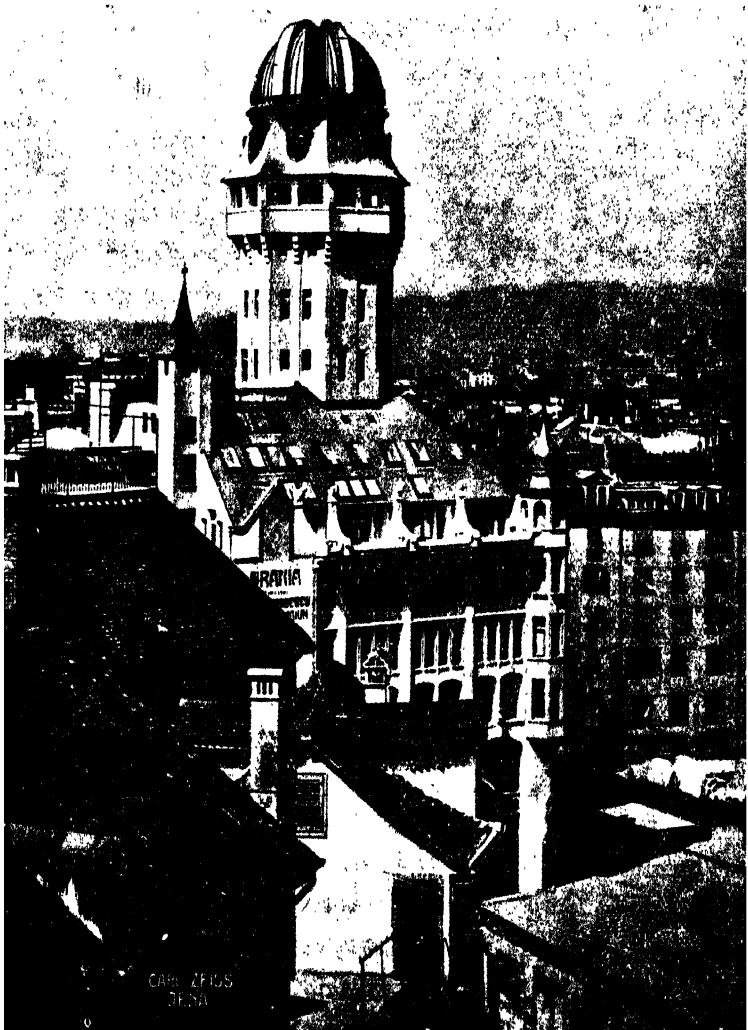
चित्र ११० — जर्मनी के इस युग के सुदृढ़ मकान

क्वेण्टिन के एक माली जोसेफ मोनियर (Joseph Monier) को कभी कभी भावावेश में आकर यह झक सवार होती थी, कि वह अपने मिट्टी के गमलों को जमीन पर पटक देता था, उसे इस प्रकार के पागलपन के दौरे आते थे। बाद को जब वह होश में आता, तो उसे पछतावा होता, —पैसे जो खर्च होते थे, इसलिये उसने यह सोचना आरंभ किया कि किस प्रकार ऐसे गमले बनाये जायँ जो पटक जाने पर टूटें न।

मोनियर ने पहले तो मामूली मिट्टी के गमले बनाये, पर जब तक ये मोटे न बनाये जायँ, ये टूट जाते थे। मोटे बनाये जाने पर ये भारी अधिक हो जाते थे। इसके बाद इन कंकरीट के गमलों के चारो ओर उसने लोहे के तार लपेटे। पर इनमें मज़बूती और हलकापन तो था किन्तु थोड़े ही दिनों में लोहे में जंग लग गया। बाद को उसने सोचा कि लोहे के तारों का गमलेनुमा एक ढाँचा तैयार किया जाय और उस ढाँचे पर कंकरीट जमायी जाय। लोहे के तार कंकरीट के भीतर छिपे रहने के कारण जंग लगने से बच गये, और गमला भी मज़बूत बन गया। मोनियर की झक और पागलपन ने इस प्रकार लौह-मिश्रित कंकरीट (फैरो-कंकरीट) को जन्म दिया। मोनियर ने फैरो कंकरीट के हौज़ भी बनाये। सन् १८६७ में उसने फैरो-कंकरीट का एक पेटेंट लिया, जिससे स्पष्ट है कि वह इसके उज्जवल भविष्य की कल्पना करता था।

लगभग इसी समय इंगलैंड में १५ वर्ष के एक बालक ने मकान बनाने में फैरो-कंकरीट के उपयोग का एक पेटेंट लिया। इस बालक का नाम जोसेफ टॉल (Joseph Tall) था। जब वह लगभग १४ वर्ष का था, उसने यह विचार किया कि कमरे का फर्श बनाते समय यदि कंकरीट के साथ-साथ लोहे की छड़ों का एक जाल बिछा दिया जाय तो फर्श बहुत मज़बूत रहेगा। कुछ

महीनों बाद कैण्ट में बैक्सलेहीथ स्थान पर उसने मकान बनाने में फैरो-कंकरीट का उपयोग आरंभ किया, पर इस समय उसे सफलता न मिली। बाद को ग्रेवसेंड में उसने कुछ मकान बनाये। मकान बनाने की इस नयी विधि की चर्चा अब बहुत होने लगी।

जोसेफ टॉल का व्यवसाय बढ़ने लगा। साउथवर्क में उसने एक कारखाना खोल दिया। धूम मच गयी। डिकेन्स के समान उपन्यासकार से लेकर प्रिन्स आव् वेल्स (एडवर्ड सप्तम) तक ने इसमें रुचि ली। टॉल २० वर्ष का भी न था, जब कि उसे पेरिस में सम्राट् नेपोलियन तृतीय के महल बनाने का ठेका मिला। २१ वर्ष की आयु में उसके पास ३०००० पौंड की सम्पदा हो गयी। पर लक्ष्मी चंचला होती हैं। इस काम के लिये जो कंपनी बनायी वह इतनी असफल हुई कि २५ वर्ष की आयु में टॉल कौड़ी-कौड़ी के लिये मोहताज हो गया। बेचारे को सड़कों के किनारे सोना पड़ता, और कठिनता से काम मिलता या भीख मिलती।

टॉल की अवस्था तो शोचनीय हो गयी, पर फैरो-कंकरीट का प्रचार तेज़ी से बढ़ने लगा। १८९२ और १८९९ में हेनेबीक (Hennebique) और कोयग्ने (Coignet) नामक शिल्पियों ने ३९०० के लगभग मकान, पुल, जलाशय आदि फैरो-कंकरीट के बनाये। न केवल ईंटों के साथ लोहे की छड़ों का उपयोग किया गया बल्कि पत्थरों की इमारतों के बीच-बीच में भी लोहे के छड़ दिये गये।

फैरो-कंकरीट के स्लैब

अगर आपने आजकल मकानों की छत बनते देखी हों, तो आप यह आसानी से समझ सकते हैं कि फैरो-कंकरीट का उपयोग कैसे

होता है। छत का पहले दृढ़ ढोला बाँधते हैं, अर्थात् ईंट, बाँस, बल्लियों के ठाठ पर मिट्टी बिछा कर छत का आश्रय तैयार करते हैं। अब इस पर एक पंक्ति ईंट की सीमेंट से जोड़ कर लगाते हैं। इसके बाद लोहे की सरिया छत की चौड़ाई के बराबर की किनारों पर थोड़ी सी मोड़ कर ईंट की पंक्ति से सटा कर रखते हैं, और फिर ईंट की दूसरी पंक्ति बिछाते हैं। अगर हर दो पंक्तियों के बीच में एक-एक लोहे की सरिया दी जायगी, तो छत बहुत मज़-बूत रहेगी। पर कभी-कभी दो-दो पंक्तियों के बाद एक-एक सरिया देते हैं। इन सरियों के आधार पर १० फुट चौड़ान की चौरस छत बड़ी सुन्दरता से तैयार हो जाती है। इससे अधिक चौड़ी छत हो तो १०-१० फुट पर गर्डर लगाने पड़ते हैं। इस प्रकार सीमेंट, लोहे की सरिया, और ईंट से छत का बनाना फैरो-कंकरीट का स्लैब लगाना कहलाता है। पूरी छत एक दिन में ही तैयार होनी चाहिये, इस प्रकार की व्यवस्था की जाती है। कई रोज़ तक छत को पानी से तर रक्खा जाता है। ८–१० दिन के बाद ढोला खोल देते हैं।

दरवाजों के ऊपर भी गोल डाट बनाने या पत्थर रखने की अब प्रथा नहीं रही। इन स्थानों पर भी फैरो-कंकरीट के स्लैब लगते हैं। मकानों के बराम्दों में पहले मोटे-मोटे खम्भे बनाने पड़ते थे, पर अब तो ये खम्भे फैरो-कंकरीट के ढाले जाते हैं। मोटे-मोटे गर्डर भी फैरो-कंकरीट के ढालने की प्रथा है। इनके ढालने के लिये अमरीका आदि में लकड़ी के बड़े-बड़े साँचे हैं, जिनमें पत्थर की गिट्टी, सीमेंट और लोहे के छड़ क्रम-पूर्वक लगाकर ये गर्डर या स्तम्भ ढाले जाते हैं। जब तैयार होकर दृढ़ हो जाते हैं, तो इन्हें साँचे में से निकाल लिया जाता है, और मकानों में यथा-स्थान लगाया जाता है।

फैरो-कंकरीट के आविष्कार ने एक नयी कला को जन्म दिया

है। फैरो-कंकरीट की मेजें, इसके खिलौने या मूर्तियाँ, स्नानागार की टब, हाथ धोने के बेसिन, और यहाँ तक कि रोटी बेलने के चकरे तक इसके बनने लगे हैं।

अमरीका के आकाशचुम्बी भवन

हमारे देश में तो बहुत ऊँचे मकान कम बनते हैं। कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में ६-७-८ मंज़िल ऊँचे मकान हैं। पर अन्य देशों में ४० मंज़िल तक ऊँचे मकान हैं। इन मकानों का पूरा ठाठ लोहे का तैयार किया गया है। जैसे हमारे शरीर में अस्थि-पिंजर है उसी प्रकार इन मकानों का लोह-पिंजर है।

प्रयाग के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के संग्रहालय का जो मुख्य भवन है, वह भी लोहे के पिंजर का बनाया गया है। कहने को तो अन्दर खंभे हैं, पर भवन का बोझ ईंटों के बने इन खंभों पर आश्रित नहीं है। एक गर्डर का बोझ दूसरे लोहे के गर्डर ने, दूसरे का तीसरे ने, इसी प्रकार नीचे फर्श में फिर लोहे का जाल, सब ओर से लोहे के जाल पर यह भवन तैयार किया गया है। ऊपर से फिर सीमेंट, चूना और ईंट की जुड़ाई है। पर संग्रहालय का यह भवन आदर्श होने पर भी अन्य देशों के विशालकाय भवनों के आगे एक बौना ही तो है।

यहाँ स्थान नहीं कि हम अमरीका के अनेक आकाशचुम्बी भवनों का विस्तृत विवरण दे सकें। सन् १८५३ में न्यूयार्क में हार्पर एंड ब्रदर्स नामक प्रकाशक कंपनी के मकान में आग लग गई। फलतः ३ लाख पौंड का उसे घाटा हो गया। कंपनी के स्वामियों ने यह सोचा कि लोहे की धन्नियों के उपयोग से ऐसा मकान बनाया जाय जिसमें आग लगने की आशंका न हो। हार्पर भवन जो बना वह ६ मंज़िल ऊँचा था। इससे अधिक ऊँचा मकान बनाया तो जा सकता था, पर प्रश्न यह था कि ऊपर

की मंज़िल से यदि किसी को नीचे आना होगा, तो सीढ़ियाँ उतरते-उतरते उसका दम फूल जायगा और उतरने में समय भी अधिक लगेगा।

हार्पर भवन के निर्माण से अमरीका के आकाशचुम्बी भवनों का इतिहास आरंभ होता है। ऊपर से नीचे उतरने और चढ़ने की समस्या पर शिल्पियों ने विचार करना आरंभ किया। सन् १८६६ में न्यूयार्क के सैंट जेम्स होटेल में झूलानुमा ऐलीवेटर या लिफ्ट का प्रयोग किया गया जो भाप के ज़ोर से संचालित होती थी। कलकत्ते या बम्बई में बिजली से काम करने वाली लिफ़्टें आपने देखी होंगी। अगर आपको ऊपर की मंजिल पर जाना है तो छोटी सी कोठरी के भीतर लोहे के एक तख्ते पर खड़े हो जाइए। लिफ़्ट को नियंत्रित करने वाला व्यक्ति बटन दबायेगा, और आपका तख्ता आपको कोठरी सहित लिये हुये तेज़ी से ऊपर ले जायगा, और जिस मंजिल तक आप पहुँचना चाहते हों, आप क्षण भर में ही पहुँच जाएँगे। लिफ्टों का उपयोग होने पर सीढ़ी चढ़ने उतरने का अब प्रश्न ही नहीं रहा। लिफ्ट उड़न-खटोले के समान यंत्र हैं। खटोले को ऊपर उठाने या नीचे लाने के लिये चर्खियाँ और लोहे के चिकने दण्ड ऊपर से नीचे तक लगे होते हैं। जिस प्रकार रस्सी से आप पानी कुएँ में से खींचते हैं, बिजली के बल पर आप का खटोला भी ऊपर खिंच कर चला जाता है। सन् १८६६ में सैंट जेम्स होटेल में जो लिफ्ट लगी थी वह बिजली से नहीं, भाप के बल से संचालित हुई थी। पर आजकल तो बिजली की लिफ्टों का ही प्रयोग सर्वत्र होता है।

लिफ्टों के प्रचार ने आकाशचुम्बी मकानों के निर्माण को बहुत प्रोत्साहित किया। सैंट जेम्स होटेल १० मंज़िल ऊँचा बना था। बफिंगटन (L. S. Buffington) नामक अमरीकन शिल्पी ने १८८० में लोहपिंजर के आश्रय पर अनेक मंजिल ऊँचे मकानों

की आयोजना तैयार की, पर यह आयोजना कागज़ पर ही रह गयी। उसने २८ मंजिल ऊँचे मकान बनाने के नक़शे का पेटेंट तो लिया पर यह बन न पाया। इसी बीच शिकागो में पहला आकाशचुम्बी भवन (Sky scraper) तैयार हो गया। आकाशचुम्बी मकान अन्य मकानों से एक बात में भिन्न हैं। इनकी दीवारें केवल लिफाफा होती हैं। इन पर मकान का बोझ नहीं टिका होता। ये केवल परदे की तरह हैं। पूरे मकान का बोझ तो लोहे के जाल पर आश्रित रहता है। जैसे आप कमरे में कहीं भी परदा टाँग कर कमरों को दो भागों में बाँट सकते हैं. परदे पर मकान का बोझ नहीं, उसी प्रकार इन आकाशचुम्बी भवनों में कहीं भी ईंट या मिट्टी की दीवार अथवा ऐसबेस्टस की दीवार खड़ी कर दीजिये। यह सोचने की आवश्यकता नहीं है कि दीवार की नींव नीचे तक गयी है या नहीं।

अमरीका के करोड़पति कार्नेगी (Carnegie) ने अपने देश में लोहे के कारखाने को बहुत बढ़ाया। तब से लोहे के बने मकानों का प्रचार बढ़ा। पहला आकाशचुम्बी भवन होम इन्श्योरेन्स कंपनी का शिकागो में १८ महीने के परिश्रम से १८८५ में बना। इसमें १० मंज़िलें थीं, और बाद को दो मंज़िलें और बढ़ायी गयीं। शिकागो इन आकाशचुम्बी भवनों का जन्मस्थान है।

आजकल ३४ मंज़िल का भवन १५ लाख पौंड के खर्च से १५ महीने में तैयार किया जा सकता है। प्रति सप्ताह लोह-पिंजर की चार मंजिलें तैयार हो जाती हैं, और प्रति सप्ताह ३ मंज़िल ईंटें चिनी जा सकती हैं। अमरीका में प्रति वर्ष १२० से लेकर १५० तक नये आकाशचुम्बी भवन तैयार हो रहे हैं। एक-एक मकान को छोटा सा एक नगर समझा जा सकता है। किसी-किसी मकान में दिन में १०-१५ हज़ार की जनसंख्या हो जाती है। न्यूयार्क के

किसी-किसी मकान में यह संभव है कि आप प्रातःकाल उठिये, दफ़्तर के काम पर जाइये, टी स्टॉल में चाय या कॉफ़ी पीने जाइये, दोपहर को होटल में भोजन कीजिये, रात को सिनेमा देखने जाइये, और फिर आकर अपने कमरे में सो रहिये। दिन भर के इतने कार्यक्रम के अनन्तर भी आपको न्यूयार्क की किसी गली में पैर रखने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। उस आकाशचुम्बी भवन में ही आपकी समस्त आवश्यकतायें पूर्ण हो जायँगी।

इस समय संसार का सबसे ऊँचा आकाशचुम्बी भवन न्यूयार्क की एम्पायर स्टेट बिल्डिंग है जो १२५० फ़ुट ऊँची है। (कल्पना कीजिये—; जिस कमरे में आप बैठे हैं, वह तो १२-१५ फ़ुट ही ऊँचा है।) इस मकान में ५८००० टन लोहा लगा। यह सन् १९३१ में तैयार हुआ था। न्यूयार्क की क्राइसलर बिल्डिंग का नम्बर दूसरा है। यह १०३० फ़ुट ऊँची है। रॉकफेलर सेण्टर में जितने आकाशचुम्बी भवन हैं उतने कहीं नहीं। पिट्सबर्ग के विश्वविद्यालय की मीनार ५३५ फ़ुट ऊँची है। इसमें १३९ प्रयोग-शालायें, ९१ पढ़ाई के कमरे और १३ लेक्चर हाल हैं। यह अपने सौन्दर्य के लिये प्रसिद्ध है।

—

१९—गैसों का युग

जिस प्रकार हम अपने इस युग को बिजली का युग, पेट्रोल का युग, कलों का युग आदि नाम दे सकते हैं, उसी प्रकार यदि हम इसे गैसों का युग भी कहें तो कुछ अनुचित न होगा। इस युग से पहले हमने गैसों का बनाना, उन पर अधिकार पाना, और उनसे उपयोगी काम निकालना नहीं सीखा था। पर आज कोई ऐसा व्यवसाय नहीं जिसमें हम किसी न किसी रूप में किसी गैस का उपयोग न करते हों। बड़े-बड़े शहरों में जैसे पानी के नल घर-घर लगे हुये हैं, उसी प्रकार गैस के भी नल लगे हैं जिसे चूल्हों में जलाया जा सकता है। न जाने लड़ाई के दिनों में कितने तरह की गैसों का उपयोग आज कल होने लगा है। वस्तुतः गैस-युद्ध-कला इस युग की एक नई चीज़ है। डाक्टरों की दूकानों पर कई प्रकार की गैसों का उपयोग होता है। हवाई जहाज़ों के इतिहास में इन गैसों का विशेष हाथ रहा है। आपने देखा होगा कि जब से पेट्रोल की कमी हुई, लारियाँ चलाने के लिये कोयले से निकली एक विशेष गैस का उपयोग होने लगा है जो सुलभ भी है और सस्ती भी। रासायनिक कारखानों में तैयार किये गये अनेक पदार्थों की तो गैसें जान ही हैं।

भाप या हवा के समान उड़ जाने और फैल सकने वाली चीज़ों का नाम गैस है। कुछ गैसों में कोई रंग नहीं होता, और इस-

लिये वे दिखाई नहीं देतीं, पर क्लोरीन के समान कुछ गैसों में रंग भी होता है। बहुत सी गैसें ऐसी भी हैं जिनमें किसी न किसी प्रकार की तीक्ष्ण गन्ध भी होती है। कुछ गैसें हवा के साथ मिला कर जलाई भी जा सकती हैं, पर कुछ ऐसी हैं जो नहीं जल सकतीं।

कार्बन डाइ-ऑक्साइड के उपयोग

चूने के भट्टे वाले इस बात से परिचित हैं, कि चूने के पत्थर को भट्ठी में तपाकर चूना तैयार करते हैं, तो उससे जो गैस निकलती है वह 'कार्बन डाइ-ऑक्साइड' है। यह वही गैस है जो श्वास द्वारा हम बाहर निकालते हैं, अथवा लकड़ी जलाने पर जो बनती है। यह गैस कार्बन और ऑक्सिजन के संयोग से प्राप्त होती है। यद्यपि इस गैस पर हमारा जीवन निर्भर नहीं है, फिर भी इसे हम विषैली नहीं कह सकते।

शर्बतों का प्रचार तो लगभग सभी देशों में अति प्राचीन काल से रहा है, पर सोडावाटर या लेमोनेड के समान पेयों का उपयोग इस युग की नयी चीज़ है। इन पेयों को 'एयरेटेड वाटर' या हवा-मिश्रित पेय कहा जाता है, पर यह न समझना चाहिये कि इनमें हवा मिली होती है। लेमोनेड या सोडावाटर की बोतल खोलने पर सनसनाती हुई जो गैस बाहर निकलती है वह 'कार्बन डाइ-ऑक्साइड' है।

आजकल कार्बन डाइ-ऑक्साइड का ६० प्रतिशत व्यवसाय एयरेटेड वाटर बनाने के लिये है। इस काम के लिये यह गैस बहुत शुद्धता से तैयार की जाती है, जिससे इसके साथ विषैली गैसें न चली आयें। शुद्ध गैस लोहे के सिलेंडरों में ऊँचे दबाव पर ठस भर कर सोडावाटर के कारखानों में पहुँचायी जाती है। एक मशीन द्वारा यह गैस सिलेंडर से बोतलों के शर्बतों

में दबाव पर भर दी जाती है। मशीन में जो घड़ी लगी रहती है उससे पता चल जाता है कि भीतर गैस का दबाव ठीक है या नहीं। दबाव लगभग १२० से १५० पौंड प्रति वर्ग इंच रक्खा जाता है। लेमोनेड, सोडावाटर (खारी पानी), तथा जिंजर आदि अनेक नामों से ये सोडा-पेय बाज़ार में मिलते हैं। इनमें नीबू का सत, इमली का सत, अदरख का सत, और अन्य स्वादिष्ट और सुगन्धि वाले पदार्थ मिलाये जाते हैं, और इच्छानुसार लाल, हरे, पीले, नारंगी आदि रंग भी छोड़ देते हैं।

इस प्रकार के पेयों का आविष्कार सबसे पहले प्रीस्टले (Priestley) ने (१७३३-१८०४) किया था, पर जब से कार्बन डाइ-ऑक्साइड का व्यापार सुलभ हो गया है, इसका प्रचार बढ़ गया है। इन पेयों के अतिरिक्त सीडलिज़ पाउडर, फ्रूट-सॉल्ट आदि बहुत से चूर्ण भी दवाखानों में इस प्रकार मिलते हैं, जो पानी में डालते ही सनसना उठते हैं। पानी में घुलने पर इनमें से कार्बन डाइ-ऑक्साइड निकलने लगती है। ये चूर्ण खाने वाले सोडा (सोडा बाइकार्ब) और इमली या नीबू के सत को उचित परिमाण में मिला कर तैयार किये जाते हैं। इनका उपयोग पेट के विकारों के लिये लाभप्रद है।

कार्बन डाइ-ऑक्साइड का उपयोग आग बुझाने वाले यन्त्रों में भी जिन्हें "फायर-एक्सटिंग्युशर" कहते हैं, होता है। इन यंत्रों को आपने सरकारी दफ्तरों और पुस्तकालयों में लगा हुआ देखा होगा। इनके भीतर सोडा और गन्धक का तेज़ाब अलग-अलग रक्खा होता है। तेज़ाब किसी काँच की शीशी में रखते है। अगर कहीं आग लग गई हो, तो यन्त्र की मूठ दबाकर काँच की शीशी को तोड़ देते हैं। शीशी टूटते ही इसका तेज़ाब सोडा पर गिरता है। दोनों के संयोग से कार्बन-डाइ-ऑक्साइड गैस इतने जोर से निकलती है कि उससे आग बुझ जाती है।

ईंधन के काम आनेवाली गैसें

भट्टियों में कोयला या लकड़ी जलाने की प्रथा तो पुरानी है, पर आजकल कोयला, मिट्टी के तेल, भाप और हवा के संयोग से अनेक ऐसी गैसें तैयार की गयी हैं, जिन्हें जलाने के काम में लाया जा सकता है। इनके द्वारा जलाने में सुविधा भी होती है, और ये सस्ती भी पड़ती हैं। कारखानों में से निकलने वाले धुएँ में भी कभी-कभी ऐसी गैसें होती हैं जो जलाने के काम में लायी जा सकती हैं। पिछले कुछ दिनों तक ये गैसें निरर्थक हवा में विलीन हो जाया करती थीं, पर अब बड़े-बड़े कारखानों में इन गैसों को शुद्ध करके जलाने के काम में लाया जाता है। इस युग के कारखानों का यह मूल-मंत्र है कि जहाँ तक संभव हो, कोई भी चीज़ व्यर्थ न जाय, चाहे वह चिमनी में से निकला हुआ धुआँ ही क्यों न हो।

कोल गैस

कोयले को यदि भभकों में १०००° से १५००° तापक्रम तक गरम किया जाय तो इसमें से बहुत सी ऐसी गैसें निकलती हैं जो ईंधन का काम दे सकती हैं। १ टन कोयले से १२,००० घन फुट गैस इस प्रकार की मिलती है जो जलने पर धुआँ नहीं देती। कोयले में से निकलते समय इसमें कोलतार का कुछ अंश मिला रहता है, और कुछ और व्यर्थ गैसें भी होती हैं—जैसे अमोनिया, हाइड्रोजन सलफाइड, नेफथलीन, आदि। इन गैसों को अलग करने के लिये इन्हें पानी से धोया जाता है, और चूने और लोहे के ऑक्साइडों पर से प्रवाहित किया जाता है। इस प्रकार शोधन करने के अनंतर यह गैस जलाने के काम आ सकती है।

कोल गैस वस्तुतः कई गैसों का मिश्रण है—इसमें ४६ प्रतिशत हाइड्रोजन, ३४ प्रतिशत मेथेन, और ८ प्रतिशत कार्बन मोनोक्साइड

गैसें होती हैं। शेष कुछ एसीटिलीन, एथिलीन, नाइट्रोजन आदि गैसें होती हैं। एसीटिलीन और एथिलीन के कारण कोल गैस का उपयोग न केवल गरमी देने वाली भट्ठियों में ही प्रत्युत गैस जलाकर रोशनी देने वाले हंडों में भी किया जा सकता है। धातुओं के अनेक कारखानों में इस गैस का उपयोग कच्चे माल से धातु तैयार करने में भी करते हैं।

प्रोड्यूसर गैस

उत्पादक गैस—कोयले को बन्द भभके में गरम करने से तो कोलगैस मिलती है, पर हवा के नियमित प्रवाह में गरम करने पर इसमें से दूसरी गैस निकलती है जिसे प्रोड्यूसर गैस कहते हैं, यह वही गैस है जिसका उपयोग बहुधा लड़ाई के दिनों में लॉरियों के चलाने में किया गया था। इसकी भट्टियाँ सुविधानुसार ऊँचाई और गोलाई की होती हैं। ६-१२ फुट तक व्यास की, ८-१५ फुट तक ऊँची। भट्ठी का भीतरी भाग पक्की ईंटों की चिनाई का होता है और बाहर से लोहे या इस्पात का खोल होता है। नीचे रोक के लिये पानी भर देते हैं। पानी के तल से कुछ ऊँचाई पर ही हवा जाने का द्वार होता है, और इस द्वार के ऊपर कोयले (कोक या पत्थर के कोयले) की चिंनाई की जाती है। कोयला जला कर लाल अंगार कर लिया जाता है, बीच-बीच में और कोयला छोड़ने की भी भट्टी में व्यवस्था होती है। लाल कोयले पर से जब हवा प्रवाहित होती है तो कार्बन मोनोक्साइड गैस (३४. ७%) बनती है। यह नाइट्रोजन (६५.३%) के साथ मिली हुई ऊपर के द्वार से लारी चलने वाले इंजिन में पहुँचती है।

सबसे पहला गैस-प्रोड्यूसर सर विलियम सीमन्स (Siemens) ने १८६१ में धातु के काम के लिये बनाया था। सन् १८७८ में इंगलैंड में डाउसन (Dowson) ने इसमें विशेष सुधार किये।

जल-गैस—कारखानों में कोल गैस और प्रोडथ्यूसर गैस के अतिरिक्त एक तीसरी गैस का जलाने में उपयोग होता है जिसे वाटर गैस कहते हैं। कोयले के लाल अंगारों पर पानी की भाप प्रवाहित करने से यह गैस बनती है। इस गैस में हाइड्रोजन और कार्बन मोनोक्साइड का मिश्रण होता है। इस गैस का उपयोग धातु के बर्तन बनाने वाले कारखानों में होता है। कोल गैस की अपेक्षा इस गैस की ज्वाला में गरमी कम होती है, पर यदि पेट्रोलियम तेल से निकली हुई गैसें इसमें और मिला दी जायँ, तो इस गैस की ताप मात्रा (कैलोरिफिक मान) बढ़ जाता है। ऐसी गैस को कारबुरेटेड-वाटर गैस कहते हैं।

वाटर-गैस

इन गैसों के अतिरिक्त और भी गैसें हैं, जिनका उपयोग ईंधन की तरह किया जाता है। वैज्ञानिक प्रयोगशाला में जलाने के लिये जो गैस काम आती है, वह 'आयल-गैस' है। कोयले के अंगारों पर मिट्टी का तेल चुआ कर यह तैयार की जाती है। यह गैस वस्तुतः कोयले से नहीं, बल्कि मिट्टी के तेल से निकलती है।

गैस-इंजिन

पेट्रोल या गैसोलीन से चलने वाले इंजिनों में और गैस-इंजिन में कोई अधिक अन्तर नहीं है। इतना अवश्य है कि पेट्रोल के इंजिन में द्रव पेट्रोल को उड़ाने के लिये कार्बुरेटर या इसी प्रकार की कोई उचित व्यवस्था होती है। वे इंजिन जिनमें कच्चा तेल उपयोग में आता है, उसमें और भी अधिक जटिलता होती है। पर गैस इंजिनों में, जिसमें प्रोड्यूसर गैस का व्यवहार होता है, कार्बुरेटर, एवेपोरेटर आदि यन्त्रों का प्रयोग आवश्यक नहीं होता। फ्रेंच इंजीनियर रोकस (Beau de Rochas) ने १८६२ में साधारण गैस इंजिन का एक पेटेंट लिया, पर सन् १८७८ में

डाक्टर ओटो ने जर्मनी में इस इंजिन को व्यवहार योग्य बनाया। ओटो इंजिन में संपूर्ण चक्र ४ श्रेणियों में विभक्त मैं। पहले स्ट्रोक से गैस हवा से मिली हुई इंजिन के भीतर घुसती है, दूसरे स्ट्रोक से यह संकुचित की जाती है, तीसरे स्ट्रोक में यह जल उठती है, और इस प्रकार ज़ोर का धक्का देकर फैलती है और चौथे स्ट्रोक में गैस जलने से बना धुआँ अपान वाल्व (एक्ज़ोस्ट) द्वारा बाहर निकल जाता है। ओटो इंजिन का उल्लेख अन्यत्र पेट्रोल-इंजिनों (डीज़ेल इंजिन) के साथ किया जा चुका है।

सीधे सादे ओटो इंजिन के अतिरिक्त इसमें सुधार करके और अनेक प्रकार के इंजिन तैयार किये गये हैं। किसी-किसी इंजिन में दो सिलेंडर होते हैं। इनसे लगभग दुगुना बल प्राप्त हो सकता है। गैस-इंजिनों के साथ हम्फ्रे पम्प लगा कर पानी ऊपर पहुँचाया जा सकता है। टेक्सास में ऐसे एक पम्प में ६६ इंच व्यास और ४१ इंच लम्बाई का विस्फोट-सिलेंडर है। पानी का नल ६६ इंच व्यास का और १०० फुट लबा है। यह पम्प एक मिनिट में ३७ फुट ऊँचाई पर २६,००० गैलन पानी पहुँचा सकता है।

गैस का उपयोग टरबाइन या चक्र-यंत्र चलाने में भी कहीं-कहीं किया गया है। गैस और हवा का मिश्रण टरबाइन की मेखला के चारों ओर बने लांकी के आकार के कोष्ठों में प्रवाहित होता है, और इनमें विस्फोट के साथ जलाया जाता है। जलाने पर गैस फैलती है, जिसके ज़ोर से टरबाइन घूमने लगती है। इस प्रकार की गैस-टरबाइन का आविष्कार होल्ज़वर्थ (Holzworth) नामक एक जर्मन शिल्पी ने किया था।

गैस के हंडे

बहुत दिनों की बात है कि रात के समय मशाल जलाकर

तेज रोशनी की जाती थी। जब रात को बरात के जलूस निकलते थे तो आगे आगे-लोग मशाल लिये हुये चलते थे। पर अब तो मशालों का उपयोग बिलकुल ही बन्द हो गया है। गैस के हंडों और पेट्रोमैक्स का प्रचार इस समय साधारण बात समझी जाती है। बरातों में, जलूसों में, और जलसों में अधिकतर रोशनी इन्हीं हंडों से की जाती है। बड़े-बड़े नगरों की सड़कों पर भी कहीं-कहीं रोशनी गैस के हंडों से होती है। वस्तुतः आजकल बिजली और गैस की रोशनी में प्रतिद्वन्द्विता छिड़ी हुई है। दोनों साधनों से हमें तेज रोशनी मिल सकती है। पर चलते हुये जलूसों में अथवा उन स्थानों में जहाँ बिजली न हो, गैस के हंडे ही एक मात्र साधन हैं।

गैस के हंडों में अधिकतर मिट्टी का तेल ही जलता है। हाँ, जहाँ आयल-गैस प्राप्त हो, वहाँ उस गैस का भी प्रयोग किया जाता है। इन हंडों में एक पम्प लगा होता है, जिससे हवा भरी जाती है। जैसे कार्बुरेटर से तेल इंजिनों में कोहरे के रूप में छितर कर आता है, वैसा ही विधान इन हंडों में भी होता है। तेल के कणों (या वाष्पों) और हवा का मिश्रण जलाकर रोशनी की जाती है। पर इन हंडों की सफलता तो इन में काम आने वाले मैण्टलों के कारण है। शायद आपने देखा होगा कि इन हंडों में एक सफेद सी टोपी लगी होती है। यह टोपी ही रोशनी को तेज़ बनाती है। इसे गैस-मैंटल कहते हैं।

कोल गैस का उपयोग रोशनी के लिये विलियम मरडोक (Murdock) नामक स्कॉट ने १७६२ में किया था, पर जब तक गैस मैंटलों का आविष्कार न हुआ, तब तक गैस की रोशनी का प्रचार न हो सका। सन् १८७८ में एडिसन (Edison) ने और १८७६ में स्वान (J. W. Swan) ने बिजली के लैम्पों में प्लैटिनम के तार ही नहीं, कार्बन-सूत्र (कोयले से बने धागों) का सफल उपयोग किया। कार्बन सूत्र सूत के धागे को गन्धक के तेज़ाब में

डुबो कर बनाये गये थे। एडिसन ने यह चाहा कि कार्बन सूत्र जितने ऊँचे तापक्रम को सह लेते हैं, उससे भी ऊँचे तापक्रम के लिये किसी पदार्थ का पता चले—इस प्रयास में उसका ध्यान थोरियम और ज़रकोनियम पार्थिवों की ओर गया। पर वह इस काम में सफल न हो सका।

सन् १८३६ में कैप्टन टामस ड्रमण्ड (Drummond) ने तेज़ रोशनी के संबंध में एक विशेष बात का पता चलाया। उसने देखा कि रोशनी तभी तेज हो सकती है, जब कि ज्वाला में कार्बन के कण किसी प्रकार प्रदीप्त किये जा सकें। हाइड्रोजन गैस की ज्वाला से तेज़ रोशनी नहीं की जा सकी—तेज़ रोशनी के लिये कार्बन के समान किसी ठोस पदार्थ का प्रदीप्त होना परम आवश्यक है। ड्रमण्ड ने देखा कि यदि हाइड्रोजन की ज्वाला चूने के ठोस पृष्ठ पर जलाई जाय तो तेज रोशनी प्राप्त होगी। इस उदाहरण के आधार पर एक आस्ट्रियन युवक ऑयर वॉन वेल्सबाक (Auer von Welsbach) ने १८८० में थोरियम, ज़रकोनियम, और सीरियम धातुओं के पार्थिवों पर प्रयोग करना आरम्भ किया। ये पार्थिव देखने में चूने के समान थे। वेल्सबाक ने यह देखा कि इन पार्थिवों से बने हुये सूत्र बिजली के बल्बों के काम के तो न थे, पर गैस के हंडों के लिये ये विशेष उपयुक्त थे। उसने सूत की टोपी बनायी और पार्थिवों के घोल में टोपियों को डुबोया। फिर टोपियों को गैस बर्नर के ऊपर रक्खा। रुई का सूत तो जलकर भस्म हो गया , पर गैस बर्नर में से तेज़ रोशनी निकलने लगी। वेल्सबाक ने इस प्रकार मैंटल बनाने में पार्थिवों की उपयोगिता देखी। इसके बाद उसने मैंटल बनाने आरंभ किये। अब उसे जिस दूसरी कठिनाई का सामना करना पड़ा वह यह थी कि ये मैंटल २-४ दिन में ही टूट-फूट जाते थे। ८-६ वर्ष के परिश्रम के अनन्तर उसने देखा कि शुद्ध थोरियम के स्थान पर यदि उसमें १० प्रतिशत

सीरियम पार्थिव भी मिला दिया जाय तो मजबूत मैंटल तैयार हो सकते हैं। तब से अब गैस मैंटलों का प्रचार बहुत बढ़ गया, और गैस के हंडे तेज रोशनी देने में सफल हो गये। वेल्सबाक का नाम गैस की रोशनी के इतिहास में अमर रहेगा।

खाद के काम की गैसें

यह तो सभी जानते हैं कि खेती के लिये खाद कितनी आवश्यक है। हमारे देश में खाद बहुधा गोबर, लीद, पत्ती और कूड़े-कचरे से बनायी जाती रही है। यह खाद सुलभ होने पर भी उतनी अच्छी नहीं होती है जितनी कि रासायनिक खाद। इस वैज्ञानिक युग में हमने परीक्षण और अनुभव द्वारा यह अच्छी तरह पता लगा लिया है कि किस प्रकार की खेती के लिये कौन सी और कितनी खाद चाहिये। इस खाद का ही यह परिणाम है कि रूस, अमरीका और आस्ट्रेलिया में यहाँ की अपेक्षा प्रति बीघा दुगुना-तिगुना अन्न पैदा किया जा सकता है, और वह अन्न यहाँ की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट जाति का होता भी है।

खाद में सबसे अधिक महत्व नाइट्रोजन और पोटाश का है। हमारे देश का शोरा खाद के लिये अच्छी चीज़ है क्योंकि इसमें नाइट्रोजन काफ़ी होता है। दक्षिणी अमरीका के चिली-प्रान्त से भेजा गया शोरा (चिली नाइटर) और भी अच्छा है। यूरोप भर में यह शोरा चिली से जहाज़ों द्वारा लाद कर भेजा जाता था। सन् १९१४ के महायुद्ध में स्वभावतः जर्मनी को यह शोरा चिली से प्राप्त न हो सका। वहाँ के वैज्ञानिकों ने यह सोचा कि रासायनिक विधि से नाइट्रोजन के यौगिक तैयार करने चाहिये। ये यौगिक न केवल खाद के लिये, प्रत्युत युद्ध के लिये गोला बारूद भी दे सकेंगे।

वायुमंडल में नाइट्रोजन का विपुल भंडार है। हमारी पृथ्वी

को १ वर्गमील सतह के ऊपर २,००,००००० टन नाइट्रोजन हवा में स्थित है। जिस गति से ससार में नाइट्रोजन का आजकल ख़र्च है, उस हिसाब से इतना नाइट्रोजन ६० वर्षों के लिये काफ़ी है। नाइट्रोजन के साथ हवा में ऑक्सिजन भी है। सन् १६२० में बर्कलैंड और आइड (Birkeland and Eyde) ने एक विधि निकाली जिससे हवा का नाइट्रोजन और ऑक्सिजन दोनों संयुक्त कराये जा सकें। बिजली के आर्क में होकर उन्होंने हवा को प्रवाहित किया। इस विधि में थोड़ा सा नाइट्रिक ऑक्साइड अवश्य बना जिससे नाइट्रिक ऐसिड का व्यापार किया जा सका। इस विधि में बाद को और भी सुधार किये गये। सन् १६०६-६ में जर्मनी के एक प्रसिद्ध रसायनज्ञ हाबर (Haber) ने नाइट्रोजन गैस को हाइड्रोजन गैस के साथ २०० वायुमंडल दबाव और ६००° तापक्रम पर संयुक्त कराकर अमोनिया गैस बनायी। इस गैस के बनने की सफलता कुछ विशेष पदार्थों के उपयोग पर निर्भर थी जिन्हें उत्प्रेरक (कैटेलिस्ट) कहते हैं। पहले तो ऑस्मियम और यूरेनियम उत्प्रेरकों का उपयोग किया गया, पर बाद को यह पता चला कि विशेष प्रकार से शोधा हुआ लोहा इस काम के लिये बहुत उपयुक्त है।

हाबर विधि से अमोनिया प्राप्त करने के लिये शुद्ध नाइट्रोजन आवश्यक है। द्रव हवा से बहुधा यह नाइट्रोजन प्राप्त किया जाता है। हाइड्रोजन गैस पानी के विद्युत् विच्छेदन से अथवा भाप को लाल दहकाये लोहे या कार्बन पर प्रवाहित करके बनाते हैं। अमोनिया गैस जो बनती है, उसे गन्धक के तेज़ाब में घोल कर अमोनियम सलफ़ेट नामक एक लवण बना लेते हैं जो खाद के लिये बड़ा उपयोगी पदार्थ है। अमोनियम सलफेट कोयले को गरम करने पर चुये हुए रस से भी बनता है। ताता आदि कम्पनियाँ जो लोहे के कारखानों में कोयला जलाती हैं, इसी प्रकार

फा०—१७

अमोनियम सलफ़ेट बना लेती हैं। पर वैज्ञानिक युग में हवा के नाइट्रोजन से फिर खाद बना लेना एक विशेष चमत्कार सिद्ध हुआ है। हमारे देश में सिंदरी में इस काम के लिये एक बड़ा कारख़ाना खोला गया है, जहाँ हज़ारों मन अमोनियम सलफेट प्रतिदिन बनता है।

गैसों द्वारा युद्ध

युद्ध के दो अंग हैं—आक्रमण और आत्मरक्षण। एक जन-समुदाय अपने शत्रुसमुदाय पर आक्रमण करता है, और शत्रु-समुदाय के आक्रमण से अपनी रक्षा करता है। सभ्यता के इतिहास में कोई भी समय ऐसा न था जब ऐसे युद्ध न होते रहे हों। दूसरों पर चाहे चढ़ाई करनी हो, चाहे शत्रुओं की चढ़ाई से अपने को बचाना हो, दोनों समयों पर मनुष्य ने क्रूर से क्रूर अस्त्र-शस्त्रों का व्यवहार किया है। जब से रसायनशास्त्र का अध्ययन बढ़ने लगा और लोगों को भयंकर गैसों का पता लग गया, उन्होंने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिये युद्ध में इन गैसों का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया। सन् १६१४-१८ में जो युद्ध हुआ था उसमें भी कुछ गैसों का प्रयोग किया गया, और १६३६ से आरम्भ हुये इस वर्तमान युद्ध में भी इन गैसों का प्रयोग किया गया है। यही नहीं, हमारे देश में ही निहत्थी सत्याग्रही जनता को छिन्न-भिन्न करने के लिये पुलिस ने गत स्वतंत्रता-आन्दोलन में कहीं-कहीं गैसों का प्रयोग किया था। अब भी उत्पाती जनसमूह को तितर-बितर करने में इसका प्रयोग होता है।

विषैली गैसों का प्रयोग पहले भी लोगों ने इतिहास में किया है। ईसा से ४३१ वर्ष पूर्व स्पार्टा निवासियों ने शत्रुओं का दम घोटने के लिये पिच और गन्धक को लकड़ी के साथ जलाया। गन्धक के धुएँ का प्रयोग इंगलैंड के गृह-युद्धों में भी किया गया

था। युद्ध के संबंध में जब हम गैस शब्द का प्रयोग करते हैं, तो हमारा अभिप्राय उन सभी पदार्थों से होता है, जो हवा के साथ मिलकर दूर-दूर तक फैल जाते हैं, और शत्रुओं को कष्ट पहुँचाते हैं। मिर्च, लोहबान, नीम की पत्ती आदि जला कर मच्छरों को भगाने और भूत उतारने की प्रथा तो हमारे देश में भी पुरानी है। २२ अप्रैल सन् १६१५ को सबसे पहले वर्त्तमान युग में जर्मनवासियों ने फ्रान्सीसियों के विरुद्ध क्लोरीन गैस का उपयोग किया यद्यपि ऐसा करना हेग के अन्तर्जातीय युद्ध नियमों के विरुद्ध था। मित्र-राष्ट्रों की सेना ने दूर से देखा कि जमीन पर से हरा-पीला धुआँ उठ रहा है और हवा के साथ बह कर उनकी ओर आ रहा है। खाइयों में बैठी हुई मित्र-सेना के समोप तक यह धुआँ पहुँचा, और वहाँ सिपाहियों का दम घोंटने लगा। बेचारे सिपाही उठ कर भागने लगे पर धुएँ ने उनका पीछा न छोड़ा। उनकी जो दुर्दशा हुई उसका यहाँ अनुमान लगाना भी कठिन है। यह वह समय था जब कि गैस-मास्क लगाने की प्रथा का आरंभ नहीं हुआ था। क्लोरीन गैस नमक, गन्धक के तेजाब और मैंगनीज के ऑक्साइड को गरम करके बनायी जाती है। इसका रंग पीत-हरित होता है। यह भारी है, इसलिये उड़कर ऊपर जल्दी नहीं जाती।

अप्रैल से दिसम्बर १६१५ तक जर्मन लोग चुप रहे और उन्होंने किसी गैस का उपयोग नहीं किया। पर १६ दिसम्बर को उन्होंने एकाएक एक दूसरी गैस का प्रयोग कर दिया। यह गैस "फॉसजीन" थी। यह गैस और विचित्र थी। किसी सैनिक ने चाहे थोड़ी देर ही इसे क्यों न सूँघा हो, उसे उस समय तो कोई कष्ट न होगा, पर बाद को इस गैस के ऐसे उग्र चिह्न व्यक्त होने लगेंगे कि उसका प्राणान्त तक हो सकता है।

सन् १६१५ में ही एक नयी गैस का उपयोग जर्मनवासियों ने किया। यह गैस "ज़ाइलील ब्रोमाइड" थी। इसकी थोड़ी सी ही

मात्रा ने सैनिकों में ऊधम मचा दिया। हवा के १० लाख भाग में इसका १ भाग का होना भी इतना समुचित था कि सैनिकों की आँखों से आँसुओं की धारें बहने लगीं। इस प्रकार की गैसों का नाम *"अश्रु-गैस"* (lachrymose) है। यह खैर थी कि जाइलील ब्रोमाइड का प्रभाव आखों पर स्थायी नहीं पड़ा। कुछ घंटों में ही आँखें स्वस्थ हो गयी। क्लोरएसीटोफीनोन और ब्रोमो बेंजिल साइनाइड भी अश्रुकारक पदार्थ है।

सन् १६१६ में जर्मनों ने "गैस-मेघों" (gas clouds) का उपयोग भी किया। गैस-आवरणों (gas screens) का भी प्रयोग किया गया। गैस-आवरणों से हमारा अभिप्राय उन गैसों से है जिनका धुआँ इतना घना होता है कि दूरबीन से भी देखने से यह पता न चले कि धुएँ के पीछे शत्रु सेना क्या कर रही है, वह आगे बढ़ भी रही है या नहीं। गैस-मेघ में न केवल घना धुआँ ही होता है, जिससे सेना छिपी रहे, प्रत्युत उसमें कुछ विषैली गैसें भी होती हैं। हवा की गति को ध्यान में रखते हुये यह गैसें छोड़ी जाती हैं, जिससे कि यह धुआँ शत्रुओं की ओर ही बढ़े, न कि मित्र पक्ष की ओर। प्रातःकाल का समय इस काम के लिये बड़ा उपयुक्त होता है। सोकर उठने से पूर्व ही शत्रुओं के शिविर में ये गैसें पहुँच जायँ, तो फिर उनमें ऐसी भगदड़ मच जायगी, जिसका अनुमान करना भी कठिन है।

सन् १६१७ में जर्मनों ने एक नयी गैस का और प्रयोग किया जिसे "मस्टर्ड-गैस" कहते हैं। यह वस्तुतः एक द्रव है जो २२०° पर उबलता है, पर इसका वाष्प दबाव बहुत कम है। इस गैस से शरीर के चर्म पर घाव उत्पन्न हो जाते हैं जो बड़ी कठिनता से अच्छे होते हैं। यह गैस युद्ध में बड़ी भयानक सिद्ध हुई। न्यपोर्ट पर एक रात में इस द्रव से भरी हुई ५०,००० गोलियाँ

जर्मनों की ओर से मित्र राष्ट्र के सैनिकों पर छोड़ी गयीं। मस्टर्ड गैस के समान ही "ल्यूइसाइट" नामक आर्सेनिक (संखिया) से बनी हुई एक दूसरी गैस का उपयोग किया गया। यह भी व्रणकारक थी। तब से आज तक जर्मनी और जापान वालों ने अन्य अनेक व्रणकारकों का अनुसन्धान कर लिया है।

सन् १९१७ में ही एक और गैस प्रयोग में आयी। यह गैस "डाइफेनिल क्लोर-आर्सीन" थी। इस गैस के सूँघने से शत्रु सेना में छींकें आने लगती थीं, और इतना कष्ट होता था कि शत्रु-सैनिक व्यवस्थित रहकर लड़ ही नहीं सकते थे। कई और भी छींक लाने वाली गैसों का आविष्कार हो सका है।

इन गैसों के साथ-साथ वमनकारक गैसों का भी युद्ध में प्रयोग किया गया। वमनकारक पदार्थों में "क्लोरोपिक्रिन" मुख्य है। यह गैस श्वास के साथ भीतर गई नहीं, कि सैनिकों में वमन या क़ै करने की प्रेरणा होने लगती है, और वे गैस-मास्क उतारने पर बाध्य हो जाते हैं। जैसे ही गैस-मास्क उतारे, उन्हें वायु में मिली हुई दूसरे प्रकार की अन्य गैसों की वेदना भी झेलनी पड़ती है।

यह स्वाभाविक था कि जब एक देश ने शत्रुओं पर आक्रमण करने में विभिन्न गैसों का प्रयोग किया तो दूसरे ने उससे बचने की भी कोई विधि सोची। यह भी उतना ही संभव था कि कभी न कभी आक्रमण के प्रति भी उसी प्रकार का प्रत्युत्तर दिया जाता। मित्र-राष्ट्र के आविष्कारकों को शीघ्र मालूम हो गया कि शत्रु कौन-सी गैसों का प्रयोग कर रहा है। उन्होंने न केवल इन गैसों से बचने के साधन सोचे, बल्कि गैस का जवाब भी गैस से दिया। गैस-युद्ध में तीन बातें आवश्यक हो गईं: (१) सिगनल या संकेत द्वारा यह शीघ्र पता

विषैली गैसों से बचने के उपाय—गैस-मास्क

लग जाय कि शत्रु ने गैस छोड़ी है, जिससे तत्क्षण ही बचने का उपाय किया जाय; (२) गैस मास्क अर्थात् नक़ली चेहरे या कवच जिनको मुँह पर लगा लेने से आँख, नाक आदि गैस के प्रभाव से बचे रहें—साथ ही गैस-मास्क में साँस लेने की ऐसी सुविधा हो कि विषैली गैस तो साँस के साथ भीतर न जाय पर शुद्ध हवा जाती रहे; (३) वायुमंडल में से विषैली गैसों को कम से कम समय में अलग कर देने की व्यवस्था।

सन् १९१५ में जब सबसे पहले गैसों का युद्ध आरंभ हुआ, तो उससे बचने के लिये तरह-तरह के घोलों में डुबोई जाने वाली कपड़े की गद्दियाँ तैयार की गयीं। इनको नाक और मुँह पर बाँध लेने से कुछ बचाव अवश्य हुआ। बाद को देखा गया कि इतने से काम नहीं चलता। धातु के बने कनस्तरों और डिब्बों में ऐसे रासायनिक पदार्थ भरे गये जो गैसों को सोख लें (जैसे क्लोरीन को सोखने के लिये भिगोआ हुआ चूना), और ऐसी व्यवस्था की गयी कि श्वास लेते समय हवा नाक में घुसने से पूर्व इन रासायनिक पदार्थों के ऊपर से जावे, और जब इसका विषैला अंश सोख लिया जाय तब यह शरीर में घुसे। राक्षसी सेना के मुँह पर लगे हुये चेहरे रामलीला में जो कौतूहल उत्पन्न करते हैं, उससे कुछ कम कौतूहल मास्क पहने हुये सैनिकों को देखने से नहीं होता। श्वास लेने वाली वायु किसी-किसी मास्क में आँख के चारों ओर प्रवाहित होकर फिर नाक में घुसती है, जिससे आँख के शीशे पर श्वास के साथ बाहर निकली भाप से धुँधलापन न आ जाय।

जैसे हर एक के पैर के लिये जूते अलग-अलग 'फिट' बनाये जाते हैं, उसी प्रकार मास्क भी हर एक के चेहरे के अनुसार छोटे-बड़े बनाने होते हैं। मास्कों का बनाना इस युग की एक अच्छी कला है। अकेले मुँह पर पहने हुये मास्कों से युद्ध में काम नहीं

चलता। यह भी आवश्यक है कि समस्त शरीर को ऐसे वस्त्र से ढाँका जाय जिसमें गैस प्रविष्ट न हो सके। गैस-रोधक वस्त्र (गैस प्रूफ क्लॉथ) बनाने की चर्चा हमारे देश में भी इन वर्षों काफ़ी रही है। मामूली कपड़ों को रासायनिक पदार्थों में डुबो कर ऐसा कलफ़ चढ़ाया जाता है, जिससे गैस भीतर घुसने ही न पावे। यह तो हम कह चुके हैं कि कुछ गैसें ऐसी भी होती हैं जो त्वचा का स्पर्श करते ही घाव कर देती हैं, और इनके घातक प्रभाव से बचने के लिये गैस-रोधक वस्त्रों का व्यवहार नितान्त आवश्यक है।

गैस-मास्कों में यह ध्यान रखना आवश्यक होता है कि कुछ सेकेंड में ही ये उतारे या पहने जा सकें। सैनिकों को गैस-मास्क पहनने और उतारने की क़वायद भी करायी जाती है, जिससे संकेत पाते ही वे गैस युद्ध के लिये तैयार हो जायँ। गैस-मास्क में यह भी ध्यान रक्खा जाता है कि पहनने वाले को कोई शारीरिक कष्ट न हो। कभी-कभी तो सैनिकों को कई घंटे लड़ाई के मैदान में गैस-मास्क लगाये रहना पड़ता है। यह सुन कर आप को आश्चर्य होगा कि गैस-मास्क न केवल मनुष्यों के लिये तैयार किये गये हैं, वरन् सेना में काम आने वाले घोड़ों के लिये भी गैस-मास्क बने हैं। विशेष प्रकार के जूते और खुरों की विशेष गद्दियाँ भी व्यवहार में लायी जाती हैं।

गैस-युद्ध ने इस युग में नयी रसायनशालाओं को जन्म दिया जिनका काम गैसों के संबंध में नूतन आविष्कार करना है। शत्रुओं द्वारा जैसे ही कोई गैस छोड़ी गयी, स्वयंसेवक मंडली ने गैस मिश्रित हवा भरी और परीक्षा के लिये फ़ौरन प्रयोगशाला में भेजी। वहाँ रसायनज्ञ इसके परीक्षण के लिये तैयार रहते हैं। वहाँ कुछ युवक इस काम के लिये तैयार रहते हैं, जिनके शरीर

पर इस विषैली हवा की परीक्षा की जा सके। दूषित प्रभाव देख कर बचने के साधनों को सोचा जाता है।

गैस-मास्क का व्यवहार युद्ध में ही नहीं, वरन् खानों में काम करने वालों की सुविधा के लिए भी किया जाता है। कोयले की गहरी खानों के भीतर दूषित हवा होती है, और वहाँ काम करने वालों के लिये मास्क के समान आवरणों का पहनना आवश्यक है।

औषधालयों में गैसों का प्रयोग

कारख़ानों में तो अनेक गैसों का प्रयोग बहुत सी चीज़ों के निर्माण में किया ही जाता है (जैसे दालदा या बिनौला से घी बनाने के लिये हाइड्रोजन गैस का), साधारण अस्पतालों में भी कुछ गैसों का किसी न किसी रूप में उपयोग होता है। जिन मनुष्यों के फेंफड़े ठीक से काम नहीं करते, विशेषतया मृत्यु शय्या पर आसीन रोगी के लिये—उनके लिये ऑक्सिजन भरे सिलेंडरों का व्यवहार किया जाता है। यह ऑक्सिजन साधारणतया पोटाश क्लोरेट को मैंगनीज़ डाइऑक्साइड के साथ गरम करके बनाते हैं। बहुत से रोगों में डाक्टर लोग क्लोरीन का घोल उपयोग में लाते हैं। हाइड्रोजन परॉक्साइड गैस के घोल कई नामों से बाज़ार में मिलते हैं जिनसे कान धोया जाता है, अथवा अन्य प्रकार के घावों पर भी जिसका व्यवहार होता है। कुछ दिनों पूर्व दाँत उखाड़ते समय नाइट्रस ऑक्साइड गैस का व्यवहार होता था, जिससे रोगी को पीड़ा कम हो। रोगी को मूर्च्छित करने के लिये क्लोरोफ़ार्म, ईथर, एथिल क्लोराइड आदि द्रव पदार्थ भी गैस रूप में वाष्पीभूत करके सुँघाते हैं।

१७—मशीनों का युग

जिस युग में हम रहते हैं, उसे मशीनों का युग कहना चाहिये। कलियुग के स्थान में इसे 'कल-युग' कहना अधिक उचित होगा। छोटे काम से लेकर बड़े काम तक सब कलों या मशीनों की सहायता से किये जाते हैं। यों तो सभ्यता के इतिहास में कोई समय ऐसा न था, जब किसी न किसी प्रकार की कल का उपयोग न किया जाता रहा हो, पर फिर भी पहले के समय की कलें सीधी-सादी थीं। हमारे गाँव में जोताई करने वाला हल भी एक कल है, पर आज सभ्य देशों में हलों का काम बड़े-बड़े ट्रैक्टरों से लेते हैं। काँटे या छोटी सुई से किसी समय हम अपने कपड़े सी लिया करते थे, पर आज की सिंगर वाली मशीन सिलाई का काम तेज़ी से ही नहीं, बड़ी सफ़ाई से भी करती है। पुराना चरखा कितना सीधा सादा यन्त्र था, पर आज सूत कातने और कपड़ा बुनने का काम विशालकाय मशीनों द्वारा लिया जाता है। गुड़ और खाँड बनाने वाले लोग अपने थोड़े से उपकरणों से ही ये पदार्थ तैयार कर लेते थे, पर आज के चीनी के कारखानों में रस निकालने से लेकर चीनी के रवे जमाने तक का काम बड़ी-बड़ी मशीनों से लिया जाता है। कुयें में से पानी खींचने के लिये पहले लोटा और डोर अथवा अधिक से अधिक कुयें पर लगी गड़ारी काफ़ी थी, पर आज पम्पों द्वारा कुयें का पानी कई-कई मंज़िल ऊँचे मकानों की

चोटी तक पहुँचा दिया जाता है। एक समय था जब घोड़े की सवारी सबसे तेज़ मानी जाती थी, रथ और बैलगाड़ियों का उपयोग होता था, अथवा प्रतिष्ठा के लिये हाथी की सवारी की जाती थी, पर आज मोटर, रेल, जहाज़ और विमान आदि का उपयोग प्रतिदिन की साधारण घटना है। इस प्रकार जीवन की प्रत्येक आवश्यकताएँ आज बड़ी-बड़ी कलों या मशीनों द्वारा पूरी की जा रही हैं। इसीलिये हम अपने इस युग को कल-युग अथवा मशीनों का युग कहते हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्म और बड़ी से बड़ी मशीनों का निर्माण इस युग का एक चमत्कार है।

मशीनों के उपयोग में कई लाभ हैं, और इसीलिये उनका प्रचार इतना बढ़ सका है। यदि कलें न काम में लायी जायँ, तो मनुष्य को अपना सब काम हाथ-पाँव से करना होगा, और उसे अपने शरीर की अधिक शक्ति का व्यय करना पड़ेगा। अपने शरीर की शक्ति को बचाने के लिये मनुष्य ने पालतू-पशुओं का उपयोग सीखा। हम स्वयं माल ढोने में असमर्थ हैं, अतः हमने गाड़ियों में बैल या घोड़े जोते। बैलों ने अपने शरीर की शक्ति भूसे से प्राप्त की। हमारी दृष्टि में बैल भी एक प्रकार की मशीन थे जिनसे हमने अपना काम साधा। इस युग के इंजिन बैल या घोड़े ही तो हैं। हम उन्हें भूसा या घास नहीं खिलाते हैं, पर इनका भोजन कोयला या पेट्रोल है। यह नहीं समझना चाहिये कि मशीनों के उपयोग में शक्ति का व्यय नहीं करना पड़ता। अन्तर इतना ही है कि यह शक्ति मनुष्य या किसी और पशु के शरीर में उत्पन्न नहीं की जाती है।

दूसरा अन्तर यह है, कि हमने अपनी मशीनों को इस प्रकार बनाया है, कि उनमें शक्ति का कम से कम अपव्यय हो। अगर हम अपने हाथों से काम करते हैं, तो हम जितनी शक्ति व्यय

करते हैं, उससे कहीं कम काम निकालते हैं। थोड़ा बहुत अपव्यय तो सभी मशीनों में होता है। कोयला जला कर जितनी शक्ति प्राप्त होती है, वह सबकी सब इंजिन में काम नहीं आ जाती। इसी प्रकार पेट्रोल जलाकर जितनी हमें शक्ति मिलती है, वह सब की सब मोटर के उपयोग में नहीं आती। शक्ति की थोड़ी सी क्षति होती तो अवश्य है, पर यह सदा ध्यान रक्खा जाता है, कि मशीनों में यह क्षति न्यूनतम हो।

मशीनों से लिये गये काम साफ़ और सुन्दर होते हैं। हाथ से लिखे गये अक्षर और मशीन से छपे अक्षरों में कितना अन्तर है, यह स्पष्ट है। किसी की लिखावट अच्छी और किसी की बुरी, और एक ही व्यक्ति की लिखावट सदा एक सी नहीं होती। पर एक मशीन से चाहे कोई छापे, अक्षर एक से आवेंगे, सब सुडौल और सुन्दर होंगे। यही अन्तर हाथ से खींचे गये चित्र और फोटो लिये गये चित्रों में है। इन कारणों से इस युग में मशीनों को इतनी सफलता प्राप्त हो सकी है।

मनुष्य का शरीर सबसे सुन्दर मशीन है।

संसार में इस युग में जितनी मशीनें बनायी गयी हैं, उनमें मनुष्य या पशु का शरीर सबसे आदर्श मशीन है। इसके शरीर में लगभग सभी प्रकार के कल-पुर्ज़े हैं। इस शरीर में सबसे अधिक विशेषता तो यह है कि यह स्वयं अपने को बनाता है, अपना विकास करता है, बिगड़ जाने पर स्वयं अपनी मरम्मत करता है। शरीर में कितनी नसें, नाड़ियाँ, एवं अस्थि-जाल हैं, और उनका कितनी अच्छी तरह से नियन्त्रण होता है, यह हमारी मशीनों के लिये आदर्श है। शरीर की मशीन में जितनी सूक्ष्मता है, उतनी मनुष्य निर्मित किसी भी मशीन में नहीं है।

बिजलीघर अथवा तारघर में नाड़ी-नसों के जाल के

समान ही कितना सुन्दर विस्तार होता है, यह भी कुछ कम कौतूहल की बात नहीं है। जहाज़ चलाने वाला नाविक अपने कमरे में बैठा हुआ जहाज़ के सभी अंगों को किस प्रकार अपने वश में रखता है, यह भी इस युग की मशीनों के लिये एक आदर्श है। कमरे से बिना बाहर आये हुये ही नाविक को यह भी मालूम है, कि बाहर की ऋतु कैसी है, समुद्र की अवस्था क्या है, हवा किस प्रकार बह रही है, जहाज़ किस ओर जा रहा है, जहाज़ में किस स्थान पर किस चीज़ की आवश्यकता है। यही नहीं, वह यह भी जानता है, कि जहाज़ की यात्रा का मार्ग साफ़ है, या उसमें कोई बाधा है। उसे वहीं बैठे-बैठे आकाश-मार्ग से जाने वाले विमानों का अथवा मीलों दूर आगे-पीछे आने वाले जहाज़ों का भी पता है। जहाज़ का नाविक एक प्रकार से सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है, वह सहस्राक्ष, सहस्रभुज और सहस्रशीर्ष है।

छोटी और बड़ी मशीनें एक ही सिद्धान्त पर

हमारी सभ्यता में कोई ऐसा युग न था जब कि हमने अपनी सुविधा के लिये मशीनों का आश्रय न लिया हो। पर पहले समय की मशीनें सीधी सादी थीं, और आजकल की बड़ी और जटिल। पर मशीनें किस सिद्धान्त पर बनायी जायँ इनका आविष्कार मनुष्य ने अपने अनुभव के आधार पर सभ्यता के प्रारम्भिक दिनों में ही कर लिया था। जितनी मशीनें हैं उनमें ६ अंगों का ही किसी न किसी प्रकार से प्रयोग होता है—(१) लीवर, (२) ढलवाँ धरातल, (३) पच्चड़, (४) पहिया, (५) धुरी और (६) पेंच। इन ६ अंगों के विभिन्न संयोगों से हमने पुराने समय में अपनी सीधी-सादी मशीनें बनायीं, और इन्हीं के संयोग से हमारी आजकल की भीमकाय मशीनें बनीं।

लीवर का सबसे सुन्दर प्रयोग हमारे शरीर के अंगों में होता

है। कुहनी को टेक कर हम हाथ से भारी चीज़ उठा सकते हैं। लीवर के आधार पर ही हमने अपनी तराजू बनायी, इस सिद्धान्त के आधार पर हमारी कैंची बनी, इसी सिद्धान्त पर नाविक ने अपनी नाव को डाँड़ से चलाना सीखा, गाँव वाले कन्धे पर लाठी रख कर भारी बोझा दूर तक इसी सिद्धान्त के आधार पर ले जाने में सफल हुये। बच्चों का ढेकी का खेल लीवर के सिद्धान्त का उपयोग है। लीवर के सिद्धान्त में एक टेक (फलक्रम) होती है, किसी ओर बोझीला काम निकालना होता है, और किसी स्थान पर काम निकालने के लिये बल लगाना पड़ता है। यह टेक या फलक्रम मुख्य है। इसके कारण थोड़ा सा बल लगा कर बड़ा काम सिद्ध किया जाता है। टेक कभी तो बोझ और बल के बीच में होती है, जैसे तराजू या नाव चलाने के डाँड में, कभी बोझ टेक और बल के बीच में होता है, और कभी बल टेक और बोझ के बीच में होता है।
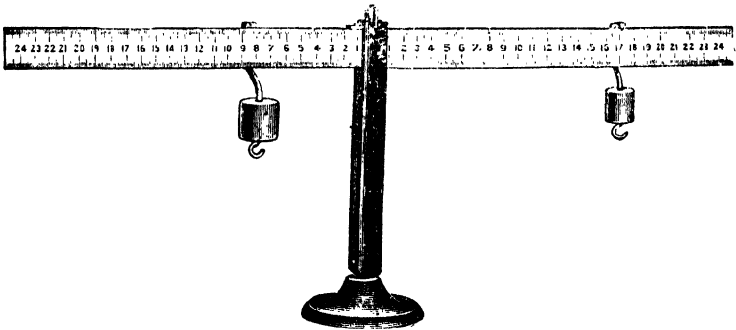
चित्र १११ · लीवर का सिद्धान्त

ढलवें धरातल के प्रयोग के आधार पर हमने आरंभ से ही अपने काम निकाले। पहाड़ की चोटी पर हम सीधे नहीं चढ़ सके; हमने अपनी पगडण्डी घेरदार बनायी; थोड़ा-थोड़ा ढाल देकर हम

ऊपर चढ़ते गये। जब कभी हमें भारी चीज़ ऊपर की मंज़िल पर चढ़ानी पड़ी, हमने उसके चढ़ाने के लिये ढाल बनाया, और फिर ढकेल कर हम उसे ऊपर चढ़ा ले गये। मिश्र के पिरामिडों में पत्थर ऊँची चोटियों तक इस आधार पर पहुँचाये गये।

पच्चड़ और पेंच तो ढलवाँ धरातल के ही रूपान्तर हैं। पच्चड़ लगाकर लकड़ी चीरना, यह तो हमने आरंभ से ही सीखा। अपनी कुल्हाड़ी की धार पैनी करके उसे हमने पच्चड़ का रूप दिया। चाकू की धार भी हमने इसी सिद्धान्त पर बनायी। लकड़ी या दीवार में गाड़ने के लिये कीलें नीचे नुकीली और ऊपर को मोटी इसी नियम पर बनीं। सुई भी पच्चड़ का ही रूप है। न जाने आरंभ से लेकर अब तक हमने पच्चड़ के सिद्धान्त पर कितनी मशीनें बनायी होंगी।
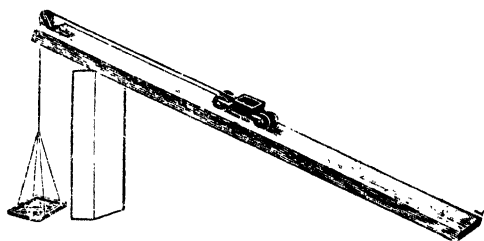
चित्र ११२—ढलवें धरातल का प्रयोग

पेंच का प्रयोग भी बहुत पुराना है, पर इस युग में बिना पेंच के कोई मशीन बन ही नहीं सकती। बरमी से लकड़ी में छेद करना हमने जब से सीखा, तब से पेंच के सिद्धान्त को हमने प्रत्यक्ष किया। बरमी घूमती भी है, और नीचे खिसकती भी है। सभी पेंच घूमते भी हैं और आगे को बढ़ते भी। यही उनकी विशेषता है। पेंच पर बने हुये साँप की
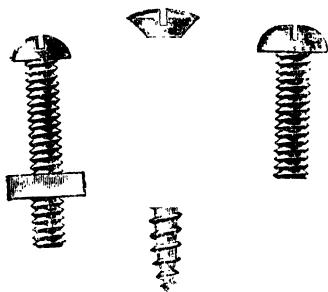
चित्र ११३—विभिन्न प्रकार के पेंच

कुंडली के से सूत चीज़ों को जकड़ कर पकड़े रखते हैं, इसीलिये कीलों के स्थान में पेंचों का प्रयोग करना अधिक लाभदायक है। पेंचकस से पेंच कितनी आसानी से खोले या कसे जा सकते हैं, यह इनकी और विशेषता है। यदि मनुष्य ने पेंच का आविष्कार न किया होता तो आज कोई भी मशीन नहीं बन सकती थी।

पहिया और धुरी के संबंध में कुछ कहना ही व्यर्थ है। गड़ारी की सहायता से कुयें में से पानी खींचने में कितनी सुविधा होती है, यह बात मनुष्य ने कब सीखी इसका हमारे पास कोई
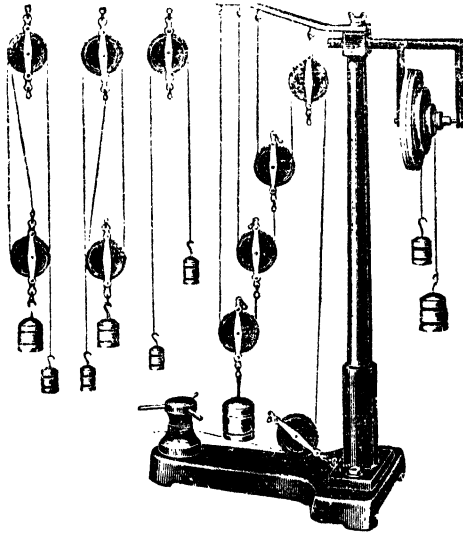
चित्र ११४—विभिन्न प्रकार की चरखियाँ और गड़ारियाँ

लेखा नहीं है। डोरी की सहायता से मक्खन निकालने की मथानी का चलाना हमने कब से सीखा, कौन कह सकता है। चरखे का पहिया सभ्यता के आरंभिक दिनों में ही हमें मालूम हो गया।

कुम्हार का चाक प्रतिदिन के परिचय की चीज़ है। धुरी पर नाचती हुई वस्तुओं का प्रयोग, और पहियों का उपयोग आजकल की मशीनों की तो जान है। मशीनों के चलने का अर्थ ही यह है, कि इसमें धुरियाँ हों, और पहिये हों।

लीवर से लेकर पेंच तक के इन छोटे से ६ पदार्थों ने मशीन के युग की नींव सभ्यता के प्रारम्भिक दिनों में ही डाली, और इनका सब से अधिक उपयोग आजकल की मशीनों में हुआ।

मशीनों को शक्ति कहाँ से मिलती है ?

कोई भी मशीन अब तक ऐसी आविष्कृत नहीं हुई है, जिससे लगाई गयी शक्ति की अपेक्षा अधिक शक्ति उपलब्ध की जा सके। वस्तुतः होता तो यह है कि शक्ति का व्यय अधिक करना पड़ता है, और आय उससे कम ही होती है। मशीन में शक्ति का कुछ न कुछ घाटा अवश्य होता है। पर इतना अवश्य हो सकता है कि हमें वह शक्ति अधिक घनीभूत हो कर प्राप्त होवे। पतीली के मुँह से निकली भाप से, अथवा तालाब के ऊपर से निकली भाप से कोई उपयोगी काम नहीं सिद्ध किया जा सकता, पर उतनी ही भाप किसी छेद द्वारा बाहर निकाली जाय, तो उसके दबाव से छोटी सी मशीन चलायी जा सकती है। बड़े पाट में बहते हुये नदी के पानी से कोई बहुत काम नहीं निकल सकता, पर उतना ही पानी छोटे से नाले में से निकाला जाय, तो यह बहुत जोरों से निकलेगा, और इससे मशीन चलायी जा सकती है। शक्ति के इस प्रकार रूपांतरित करने को हम उसका घनीभूत होना कह सकते हैं। बिजली का ट्रान्सफॉर्मर कम वोल्ट वाली बिजली की बहुत-सी मात्रा को अत्यंत प्रबल वोल्ट वाली क्षुद्र मात्रा में बदल देता है। यहाँ भी शक्ति घनीभूत होकर हमारी मशीनों के काम के योग्य बन गयी। संसार में शक्ति बिखरी हुई पड़ी है, शक्ति की कमी

नहीं है। केवल आवश्यकता है उस बिखरी हुई शक्ति को समेट लेने की। मशीनों के युग में हम इस शक्ति को न केवल समेट लेने में सफल हुये हैं, वरन् हमने इस शक्ति से उपयोगी काम निकालने की कला का भी विकास किया है।

हमें शक्ति कहाँ से मिलती है ? इसका उत्तर स्पष्ट है। शक्ति के निम्न स्रोतों का हमने उपयोग किया है—

१. मनुष्य और अन्य पशुओं का शारीरिक बल।
२. सूर्य्य से मिली शक्ति।
३. हवा से मिली शक्ति।
४. पृथ्वी के गर्भ में संचित शक्ति।
५. कोयला, लकड़ी, तेल आदि ईंधनों से प्राप्त शक्ति।
६. रासायनिक शक्ति।
७. पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से प्राप्त शक्ति।

सच पूछा जाय तो अन्तिम शक्ति को छोड़ कर शेष सब ६ शक्तियाँ मूल रूप से हमें सूर्य्य से ही मिलती हैं। हवा के वेग में जो शक्ति है, अथवा कोयले में या रासायनिक पदार्थों में, वह सब सूर्य्य से ही आयी है। पशुओं के शरीर का बल भोजन के कारण है, और भोजन के अन्दर छिपी हुई शक्ति सूर्य्य से ही आयी है। इसीलिये सूर्य देवता हमारे जीवन के सबसे अधिक साधक हैं।

हम आज भी अपनी शक्ति को 'अश्वबल' या घोड़े के बल से नापते हैं। कोई मोटर ४ हॉर्स पावर की होती है कोई २० की। यह हॉर्स पावर (अश्व-बल) उस प्रकृति का सूचक है जब हम अपना काम घोड़ों से अधिक निकालते थे। अत्यन्त स्वस्थ घोड़े कुछ क्षणों के लिये ३३,००० फुट-पाउण्ड काम प्रति मिनट कर सकते हैं, अर्थात् ३३,००० पाउण्ड या लगभग ४०० मन का बोझा एक मिनट में एक फुट दूरी तक खींच कर ले जा सकते हैं।

इतने बल को हम एक अश्व-बल या १ हॉर्स पावर कहते हैं। हमारे युद्ध पोतों या जंगी जहाज़ों में लगी हुई भाप की मशीनों में ५०,००० से अधिक हॉर्स पावर तक का बल होता है।

सूर्य्य से हमें कितनी शक्ति प्राप्त होती है, इसका कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। हमारे देश में गर्मी की ऋतु में प्रति वर्ग मील भूमि पर सूर्य से २००,०००,००० हॉर्स पावर की शक्ति प्राप्त होती रहती है। अगर किसी प्रकार हम इस समस्त शक्ति को समेट सकें और अपने काम में ला सकें, तो एक नगर की शक्ति से ही समस्त देश की मशीनें चलायी जा सकती हैं। पर मनुष्य को यह क्षमता अब तक नहीं प्राप्त हुई है। इस शक्ति का अधिकांश तो व्यर्थ चला जाता है। पेड़-पौधे इस शक्ति को अपने शरीर में संचित रखने का प्रयत्न करते हैं। यह सब जानते हैं कि सूर्य की धूप के बिना पौधे जीवित नहीं रह सकते। पेड़-पौधों में संचित यह शक्ति हमें भोजन द्वारा मिलती है, जिससे प्राणी अपना काम चलाते हैं। ये पेड़-पौधे पृथ्वी में दब कर कोयले की खानें या मिट्टी के तेल के कुयें बन गये। कोयले को जला कर या पेट्रोल के उपयोग से हम यह शक्ति फिर प्राप्त कर रहे हैं, और ये चीज़ें तो आज हमारी मशीनों की जान हैं।

हवा से बल हमें कितना मिलता है, यह तो नाव या जहाज़ चलाने वाले जानते हैं। नावों में पाल लगाने की प्रथा तो बहुत पुरानी है। आजकल भी जहाज़ों में ५-७ पाल लगे होते हैं जिन्हें हवा से २०००-५००० हॉर्स पावर का बल मिलता रहता है। हवा से चलने वाली पनचक्कियों का १२ वीं शताब्दी में यूरोप में बड़ा प्रचार था। हालैंड में अब भी इनका व्यवहार होता है। जो हवा प्रति घंटा १०-२० मील की गति से चलती है, वह पनचक्कियों के लिये लाभकर है, पर इस गति की हवा बारहो महीनें नहीं चल

सकती। अतः हवा से चलायी गयी चक्कियाँ बरस भर काम में नहीं लायी जा सकतीं।

पृथ्वी के भीतर लगभग तीन मील नीचे इतनी गरमी है, कि यदि उसका उपयोग कर सकें, तो अपनी बहुत सी मशीनों को हम चला सकते हैं। पर इतना नीचे तक खोदायी करने में व्यय अधिक पड़ता है। ३ मील नीचे पृथ्वी के जो गरमी है उससे केवल १०० हॉर्स पावर का बल प्राप्त होगा। इस दृष्टि से इस बल का उपयोग करना कोई बुद्धिमता नहीं है।

पर ज्वालामुखियों से जो भापें निकलती हैं, वे बिना किसी दाम को खर्च किये हुये हमें इसी प्रकार की शक्ति दे देती हैं। सन् १९१७ में रोम के प्रो० ल्यूग्गी (Luiggi) ने यह बात बताई थी कि टस्कनी में ४००० हॉर्स पावर वाले ३ मोटर इसी प्रकार की भाप से काम कर रहे हैं। ज्वालामुखी वाले प्रदेशों में १५-२० इंच व्यास के लोहे के पाइप ३००-५०० फुट गहरे ज़मीन में गाड़ दिये जाते हैं, और उन पाइपों से निकली हुई भाप का दबाव ५० पौंड और तापक्रम ३७५०° डिगरी (फैरन०) तक होता है। इस भाप से मशीनें चलायी जा सकती हैं, या बॉयलर गरम किये जा सकते हैं।

कोयला, तेल आदि ईंधनों से प्राप्त शक्ति का उल्लेख करना व्यर्थ है। रासायनिक विधियों से भी पेट्रोलियम बनाया जाना संभव हुआ है। पॉवर एलकोहल जिसे पेट्रोल में मिला कर काम में लाते हैं, रासायनिक विधि से ही बनाया जाता है। इस से स्पष्ट है कि रासायनिक शक्ति का हम कितना उपयोग अपनी मशीनों में कर सकते हैं।

पृथ्वी के गुरुत्व और गुरुत्वाकर्षण से तो हम बराबर ही काम लेते हैं। मसूरी पहाड़ पर जब मोटर या लारी चढ़ती है, तब तो हमें पेट्रोल जलाना पड़ता है, पर उतरते समय मीलों की यात्रा

हम बिना खर्चे के ही कर लेते हैं। समुद्र में ज्वार-भाटा ग्रहों के गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव के कारण आता है। बन्दरगाहों पर जहाज लाने में ये ज्वार-भाटे कितने सहायक होते हैं, यह तो सभी जानते हैं। ज्वार-भाटे के समय पानी के चढ़ाव से मशीनें भी चलायी जा सकती हैं। रौकलैंड, मेन, में ५००० हॉर्स पावर की मशीन संकुचित हवा या सघन वायु के बनाने में काम आ रही है; यह मशीन ज्वारभाटा के जल से प्राप्त शक्ति का ही उपयोग करती है। अमरीका के समुद्री तटों पर अनेक कारखानों में छोटी मोटी मशीनें इसी बल के आधार पर चलायी जाती हैं।

मशीनों के इस युग में हमें जहाँ से भी सस्ती शक्ति मिल सकी, हमने उसका उपयोग किया। इस प्रकार के उपयोग से हमने मशीनों वाली एक नयी सभ्यता की नींव डाली।

१८—दानव-भुजायें या क्रेन

मिश्र देश के पिरैमिड सभ्यता के इतिहास में एक विशेष स्थान रखते हैं। इनकी ऊँची चोटी पर पत्थर कैसे पहुँचाये गये, इसका उत्तर उनके समीप की भूमि को देखने से पता चल जाता है। पिरैमिडों के चारों ओर ढलवाँ चबूतरा सा बना है। इस ढलवाँ मार्ग पर ढकेल-ढकेल कर भारी-भारी पत्थर ऊपर पहुँचाये जा सके।
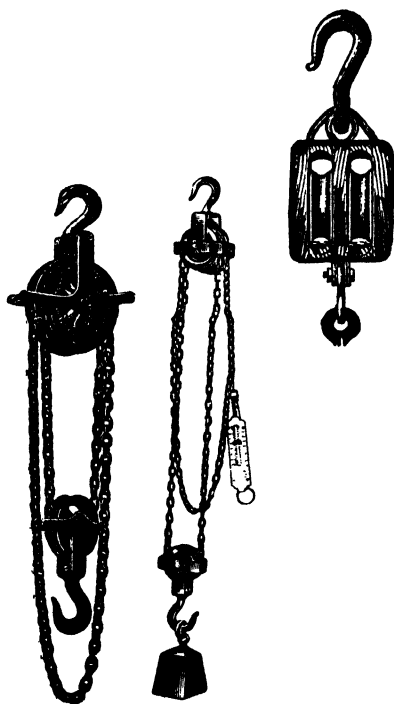
चित्र ११५—बोझा उठाने के क्रेनों में चरखियों का प्रयोग

पर ताजमहल या कुतुब-मीनार की चोटियों तक सामान कैसे पहुँचाया गया? दिल्ली या आगरे के क़िलों में इतनी ऊँचाई तक सामान कैसे पहुँचाया गया? हमारे देश में यह प्रथा रही है कि मकान बनाते समय पाड़ बाँधते हैं। दो मंज़िले-तिमंज़िले तक ये पाड़ें बाँस और रस्सी एवं बल्लियों की

सहायता से बाँधी जाती हैं, और इन पाड़ों पर से ही सामान ऊपर भेजा जाता है। बहुत सा सामान रस्सियों से खींच कर ऊपर चढ़ाते हैं। मकानों की छतों के लिये लोहे के गर्डर चढ़ाते समय मजदूरों को कितना परिश्रम करना पड़ता है, इसका अनुभव तो सर्व सामान्य को है।

सभ्यता के वर्त्तमान युग में अत्यन्त भारी पदार्थों को नीचे से ऊपर ले जाने के लिये, अथवा ऊपर से नीचे लाने के लिये, और इतना ही नहीं, एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटाने के लिये जिस यंत्र का उपयोग करते हैं, उसका नाम क्रेन है। रेल की पटरियों से मालगाड़ियों के डिब्बे खिसक कर नीचे लुढ़क पड़ते हैं, और कभी-कभी इंजनों के टकराने से इंजन एक दूसरे में धँस जाते हैं। इनको अलग करने और यथा-स्थान लगाने के लिये बड़े-बड़े स्टेशनों पर क्रेनों का प्रबन्ध होता है। मालगाड़ियों में सामान भरने और उनसे सामान उतारने का काम भी क्रेनों की सहायता से लिया जाता है। जहाज़ों में भारी-भारी सामान भी क्रेनों के उपयोग से लादते हैं। न्यूयार्क, कलकत्ता और बम्बई के आकाशचुम्बी मकानों की छतों पर लगे हुये गर्डर आजकल के क्रेनों की कृपा के फल हैं। वस्तुतः आजकल कोई भी भारी काम ऐसा नहीं है जिसमें क्रेनों का व्यवहार न होता हो।

छोटे कामों के लिये छोटे क्रेन और बड़े कामों के लिये विशाल-काय क्रेनों का निर्माण किया गया है। प्रत्येक क्रेन में सबसे मुख्य भाग ये होते हैं—(१) लम्बी भुजा जो दायें-बायें, ऊपर-नीचे घूम सकती है। इसे जिब कहते हैं। इस भुजा से पकड़ कर चीजें उठायी जाती हैं, (२) मेरुदण्ड या क्रेन पोस्ट जिसके आश्रय पर क्रेन घूमता है। (३) एक ढोल जिस पर जंजीरें लिपटी होती हैं। जंजीरों को खींच कर या ढील

देकर क्रेन की भुजा ऊपर-नीचे की जाती है। (४) इन तीनों के अतिरिक्त बहुत सी चरखियाँ, हैंडल, और लीवर होते हैं।

कुछ क्रेन तो हाथ से काम करते हैं। क्रेन से काम करने वाला व्यक्ति अपने हाथ से हैंडल घुमाता है। लीवरों का इस प्रकार क्रेन में विधान होता है कि इतने थोड़े बल से ही क्रेन की भुजा भारी-भारी बोझों को ऊपर उठा लेने में समर्थ होती है। कुछ क्रेन शून्य या वेकुअम के सिद्धान्त पर काम करते हैं, और कुछ में भाप या पानी के बल का उपयोग किया जाता है।

रेलों के कारखानों में काम करने वाले क्रेन चार पैरों वाली मीनारों पर टिके होते हैं। ये पैर इतने ऊँचे होते हैं कि पैरों के नीचे से रेलगाड़ियाँ निकल जा सकती हैं। मीनारों के पैरों के नीचे पहिये भी होते हैं, जिनसे ये क्रेन पटरियों पर दौड़ाये जा सकते हैं। मालगाड़ियों में सामान भरने-उतारने का काम इन क्रेनों से लिया जाता है।

बन्दरगाहों में काम करने वाले क्रेन पानी पर तैरते रहते हैं। इनका काम न केवल जहाज़ पर सामान चढ़ाना-उतारना है, इनकी सहायता से पुलों को खोलने-बन्द करने का भी काम लेते हैं। जहाज़ों के डॉकों के फाटक भी इनसे खोले-बन्द किये जाते हैं। जहाज़ों की मरम्मत के काम में भी इनसे सहायता ली जाती है।

फिलाडेलफिया नेवीयार्ड (संयुक्त राज्य अमरीका) का क्रेन २५० फुट ऊँचा है। यह संसार का सबसे बड़ा क्रेन है। यह ३५० टन (१०००० मन) का बोझा उठा सकता है। इसके बनाने में ३० लाख रुपये के लगभग व्यय पड़ा था। लिवरपूल का विशालकाय क्रेन जिसका नाम *मैमथ* है २०० टन बोझा उठा सकता है। इसकी जिब या भुजा ६६ फुट ऊँचे स्तम्भ पर आश्रित है। जिस

पौण्टून (नौका) पर यह क्रेन पानी पर उतराता है उसकी लंबाई १५४ फुट है। यह पौण्टून नौका समुद्र में मशीन द्वारा चलायी जाती है। क्रेन का सारा काम बिजली के १० मोटरों से होता है।

अगर हमारे इस युग में क्रेनों का आविष्कार न होता तो उद्योग और व्यवसाय को वह रूप न प्राप्त होता जो इस समय है। एक क्रेन से वह काम होता है जिसे सैकड़ों आदमी भी न कर पाते। इसके काम में किसी प्रकार का जोखम नहीं। डॉकयार्डों में काम करते हुये क्रेन कितने भले लगते हैं, मानो किसी ने बड़ी-बड़ी भुजाओं वाले दानवों को अपनी सेवा के लिये रख लिया है।

१६—टाइपराइटर और हिसाब लगाने वाली मशीनें

आजकल कोई ऐसा कार्य्यालय नहीं है जहाँ टाइपराइटर न हो। चलने फिरने के साधनों में जैसे सायकिल सुगम और सर्व सुलभ है उसी प्रकार लिखने-पढ़ने के काम में टाइपराइटर है। जिन कार्य्यालयों में केवल हिन्दी में काम होता है, वहाँ अब हिन्दी के टाइपराइटर भी आ गये हैं, यद्यपि उनका प्रचार अभी इतना नहीं है जितना होना चाहिये। खटखट छापते हुये टाइपराइटर की ध्वनि कार्य्यालय को चैतन्या-सा बना देती है। इस मशीन से लेख शीघ्र छपता है, छपाई के अक्षर सुन्दर और स्वच्छ होते हैं, और यही नहीं, एक साथ ३, ४, ५ कापियाँ तक छापी जा सकती हैं। जो अपने हाथ से सुन्दर नहीं लिख सकते उनके लिये तो यह एक बरदान हैं। त्वरालेखन या शार्ट हैंड के साथ टाइपराइटर की कला संयुक्त कर के आजकल की संवाददातृ पद्धति का जन्म हुआ है जो पत्रों और पत्रकारों के लिये अनिवार्य्य वस्तु है।

टाइपराइटर के आविष्कार की कहानी लगभग १०० वर्ष पुरानी है। यह ठीक है कि मशीन द्वारा लिखने का पहला उल्लेख ब्रिटिश पेटेंट ऑफिस के लेखों में १७१४ का भी मिलता है। हेनरी मिल (Henry Mill) नामक एक एंजीनियर ने इस समय लिखने वाली

एक मशीन का पेटेंट लिया था। सन् १८२९ में संयुक्त राज्य अमरीका में भी विलियम ऑस्टिन बर्ट (W. A. Burt) ने इसी प्रकार की मशीन का पेटेंट लिया। इसने वर्णमाला के अक्षरों को एक गोल टुकड़े पर रक्खा और लीवर आदि के सिद्धान्तों के उपयोग से ऐसी मशीन बनायी जिसकी कमानियों को दबाने से वही अक्षर कागज़ पर जाकर लगता जिसे छापना चाहते।

हर एक अक्षर के लिये अलग-अलग लीवर का प्रयोग १८३३ की 'टाइपोग्राफिक मशीन' में किया गया। इसे फ्रान्स के मार्सले स्थान के ज़ेवियर प्रोगिन (Xavier Progin) ने बनाया था। टाइप के अक्षरों को स्याही में डुबाई हुई गद्दी से रंजित किया जाता था और निचले भाग में रक्खे कागज़ पर छपाई होती थी। इसी प्रकार की मशीन से संगीत संकेतों के छापने का भी प्रयत्न किया गया। ब्रिटिश आफिस के रिकार्डों से यह पता चलता है कि १८४० में एलेक्जेंडर बेन (Alexander Bain) और थामस राइट (Thomas Wright) ने टेलीग्राफ के समाचार छापने की मशीन का भी एक पेटेंट लिया था। इस प्रकार ये लोग 'टेलीग्राफिक प्रिण्टर' के मूल आविष्कारक कहे जाते हैं।

अंधों के लिये मशीनें

सन् १८४० और १८५० के बीच में इंगलैंड में बहुत सी लिखने वाली मशीनें बनीं। इनमें से अनेक के बनाने का उद्देश्य यह था कि अंधे व्यक्ति केवल सुन कर और अनुमान से अँगुलियाँ चला कर कुछ लिख सकें। काठ के टुकड़ों से बने बड़े-बड़े अक्षरों पर अँगुलियाँ फिरा कर पढ़ने का अभ्यास भी अंधों को कराया जाता था। लगभग इसी समय १८४३-४५ में अमरीका में चार्ल्स थरबर (Charles E. Thurber) ने एक ऐसी मशीन पेटेंट करायी जिसके टाइप एक पहिये में लगे हुये थे। इस मशीन में

पहली बार यह व्यवस्था की गयी थी कि छपने पर कागज़ स्वयं अपने स्थान से थोड़ा सा खिसकता जाय, जिससे पहले छपे अक्षर पर ही दूसरा अक्षर न गिरे। यह विशेषता होने पर भी यह मशीन भोंडी और काम में सुस्त थी। वोरसेस्टर की एंटीकेरियन सोसायटी के प्रदर्शनालय में यह अपने मूल रूप में अब तक रक्खी हुई है।

टाइपराइटर कला के संबंध में इसी समय सबसे अधिक रुचि अलफ्रेड बीच (Alfred E.Beach)ने उत्पन्न करदी। यह व्यक्ति प्रसिद्ध पत्र "सायंटफिक अमरीकन" का संपादक था। सन् १८४७ से १८५६ तक इसने टाइपराइटर को व्यवहार योग्य बनाने का बड़ा प्रयास किया और अपने पत्र में अनेक लेख छाप कर लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। इसकी मशीन की यह विशेषता थी कि दबाये जाने पर सब अक्षर बीच में एक निश्चित स्थान पर गिरते थे। इसमें अक्षरों और पंक्तियों के बीच में "स्पेस" (रिक्त-स्थान) देने की भी व्यवस्था थी। पंक्ति समाप्त होने पर अपने आप घंटी बज जाय, इसका भी विधान था।

बीच के बाद फ्रान्सिस (S. W. Francis) ने जो न्यूयॉर्क का एक चिकित्सक था टाइपराइटर के निर्माण में कई सुधार किये। इसकी मशीन में टाइप ऊपर उठाने की वैसी ही व्यवस्था थी जैसी पियानो बाजा में स्वर उठाने की। फ्रान्सिस की मशीन काम तो अच्छा करती थी पर बड़ी जटिल थी और इसका दाम अधिक था। यह कभी बाजार में बिकने न आयी। संभवतः एक से अधिक मशीन इस मॉडेल की बनी भी नहीं।

सन् १८४३ में पीरी फोकौल्ड (Pierre Foucauld) नामक एक अन्धे तरुण ने जो पेरिस के अंधे आश्रम का वासी था, एक ऐसी मशीन बनायी जिससे उभरे हुये अक्षर छपते थे। यह मशीन बड़ी

सुन्दर थी, और जनता ने इसका अच्छा स्वागत किया। १८५१ वाले लंडन के वर्ल्ड् सफेयर (अखिल विश्व-मेला) में इसे स्वर्णपदक प्रदान किया गया। अन्धों की अनेक संस्थाओं में फोकौल्ड की मशीनों का व्यवहार किया जाने लगा।

व्यापारिक जगत् में मशीनों की माँग

१६ वीं शताब्दी के मध्य भाग में व्यापारिक जगत् के कार्य्यालयों में पत्र व्यवहार का काम इतना बढ़ गया था, कि यह आवश्यक प्रतीत होने लगा कि ऐसी मशीन होनी चाहिये जिससे काम शीघ्र हो। ऐसा व्यक्ति जिसे यह श्रेय दिया जा सकता है कि उसने व्यापार के काम की मशीन तैयार कर दी चार्ल्स लैदम शोल्स (Charles Latham Sholes) था। यह मिलवौकी का रहने वाला था। सन् १८६८ में उसने छापने वाली मशीन के कई पेटेंट लिये जो हमारे वर्त्तमान टाइपराइटरों के जन्मदाता हैं। शोल्स एक उत्साही मुद्रक और संपादक था, और उसे अपने समान एक दूसरे कर्मण्य व्यक्ति सूल (S. W. Soule) का सहयोग भी प्राप्त हो गया था। दोनों ने मिल कर पहले एक ऐसी मशीन बनायी थी जिससे कापियों और रजिस्टरों के पन्नों पर पृष्ठ संख्या डाली जा सके। रसीद बहियों पर पृष्ठ संख्या छापने वाली छोटी सी मशीन आपने शायद देखी हो, लगभग उसी प्रकार की। शोल्स और सूल के साथ तीसरा व्यक्ति जिसने सहयोग दिया ग्लिडन (Glidden) था। इन लोगों की बनायी पहली टाइपराइटर मशीन में अंग्रेजी के केवल कैपिटल अक्षरों का प्रयोग किया गया था। इस मशीन से बहुत दिनों तक पत्र व्यवहार का काम चलाया गया।

इस टाइपराइटर से छापे गये कुछ पत्रों को जेम्स डेन्समोर (James Densmore) ने देखा तो उसकी रुचि इस मशीन को खरीदने की हुई। यह व्यक्ति पेन्सेलवेनिया का एक धनाढ्य

व्यापारी था। यद्यपि उसने मशीन देखी न थी, पर फिर भी मशीन से छपे पत्रों को देख कर ही वह ललचा उठा। उसने शोल्स और उसके सहकारियों का सारा खर्च जो उस मशीन के आविष्कार में हुआ था चुका दिया, और कुछ धन उनको भेंट भी किया। डेन्समोर ने मशीन की परीक्षा की। उसने देखा कि जिन सिद्धान्तों पर मशीन बनी है, वे तो ठीक हैं, पर जिस विधि पर मशीन बनायी गयी है वह बहुत दोषपूर्ण है। डेन्समोर ने मशीन में सुधार करना आरंभ किया। अनेक मॉडेल बनाये गये और एक के बाद एक तिरस्कृत कर दिये गये। डेन्समोर के इस व्यवहार से ग्लिडन और सूल तो निरुत्साह हो गये और उन्होंने यह काम छोड़ दिया। पर डेन्समोर शोल्स को बराबर धैर्य्य बँधाता रहा। अगर शोल्स भी काम छोड़ देता तो टाइपराइटर इस उन्नत अवस्था को प्राप्त न हो सकते।

डेन्समोर ने अपने काम में एक निष्पक्ष कलाकार ज्यॉर्ज योस्ट (George W. N. Yost) से भी परामर्श लिया। उसके बताये गये संशोधनों पर विचार करके टाइपराइटर मशीन के पुर्जे बनाने का काम डेन्समोर ने न्यूयार्क की एक कंपनी "रेमिंगटन एण्ड सन्स" को सौंपा। यह कंपनी अब तक गोला बारूद का काम करती थी, और इसके पास बड़े चतुर शिल्पी थे, और सुन्दर मशीनें थीं। यह कंपनी ही ऐसे जटिल काम के योग्य पात्र चुनी गयी। इस कंपनी ने डेन्समोर के लिये टाइपराइटर न केवल बनाये बल्कि बाद में १८७३ में इन मशीनों के व्यापार का अधिकार भी इसी ने खरीद लिया। उसने टाइपराइटर का नाम ही "रेमिंग-टन" रख दिया। यह नाम आज तक हमारे टाइपराइटरों के लिये प्रयुक्त हो रहा है।

"रेमिंगटन" का प्रचार

टाइपराइटर का नाम रेमिंगटन कैसे पड़ा यह तो हमने देख

लिया। सबसे पहले रेमिंगटन का प्रदर्शन १८७६ में फिलाडलफिया की शताब्दी प्रदर्शनी किया गया था। इस समय इस पर यह आपत्ति की गयी कि इससे केवल कैपिटल अक्षर (अँग्रेजी के बड़े अक्षर) छपते हैं। पर यह दोष शीघ्र दूर कर दिया गया। क्रैंडल (L. S. Crandall) और ब्रूक्स (Brookes) नामक व्यक्तियों ने यह सुझाव दिया कि एक तीली पर ही पास-पास कैपिटल और स्मॉल दोनों अक्षर बने हों, और मशीन में एक शिफ्ट-की ऐसी लगायी जाय जिसके दबाने पर दोनों में से एक अक्षर ही स्याही के फीते पर पड़े। अब हर एक तीली पर दो-दो अक्षर बनने लगे। गिनती के अक्षर और दूसरे चिह्नों को भी इस प्रकार थोड़ी सी ही जगह में स्थान मिल गया। यह काम १८७७ में पूरा हुआ।

इस बात का भी उल्लेख यहाँ अनुचित न होगा कि लगभग इसी समय योस्ट (Yost) नामक एक व्यक्ति ने 'केलिग्राफ़' नामक एक मशीन बनायी थी। इस मशीन में दो केस थे, एक कैपिटल अक्षरों का और दूसरा स्मॉल अक्षरों का। यह मशीन जटिल थी और इसका प्रचार न हो सका।

रेमिंगटन नं० २ मशीन १८७८ में पेरिस प्रदर्शिनी में रक्खी गयी। यह पहली मशीन थी जिसमें कैपिटल और स्मॉल दोनों अक्षर थे। इस मशीन में कुल ३८ अक्षर थे। इसके बाद दूसरी रेमिंगटन मशीनें बनीं। रेमिंगटन नं० ६ में ७६ अक्षर हैं। नं० ५ और नं० ७ में और लंबे पृष्ठ छापने वाली बड़ी मशीन में ८४ अक्षर होते हैं।

टाइपराइटर में अक्षरों का क्रम

शोल्स छापेखाने में काम करता था, इसलिये उसने अपने टाइपराइटर में अक्षरों का वही क्रम रक्खा जो छापेखाने के केसों

में होता है। इसमें अनेक असुविधायें थीं। शुरू में टाइपराइटर पर एक अँगुली से काम होता था। बाद को 'टच पद्धति' का जन्म दिया गया जिसमें दोनों हाथों की सभी अँगुलियाँ व्यवहार में आने लगीं, और अक्षरों को बिना देखे ही छापा जाने लगा। इस समय अलग-अलग टाइपराइटरों में अक्षरों के अलग-अलग क्रम रहने से यह असुविधा थी, कि एक मशीन पर अभ्यस्त व्यक्ति दूसरी पर काम नहीं कर सकता था। इस दोष को मिटाने के लिये 'सर्वमान्य' अक्षर-क्रम की पद्धति निकाली गयी। इस पद्धति में उन अक्षरों को जिनका व्यवहार अधिक होता है, विशेष सुविधाजनक स्थान पर रक्खा गया है।

अक्षर आँखों के सामने छपें

पहले की मशीनों में अक्षर काग़ज़ पर ऐसे स्थान पर छपते थे कि छापते समय हम उन्हें देख नहीं पाते थे। कैरिज उठा कर उन्हें देखते थे। कहा जाता है कि सबसे पहली मशीन 'बार-लॉक' (Bar Lock) थी जो १८८० के लगभग बनी थी जिससे छपे अक्षर बाहर से देखे जा सकते थे, पर इसमें भी देखने के लिये आगे की ओर झुकना पड़ता था। यह व्यवस्था कैरिज उठा कर देखने की व्यवस्था से भी कठिन थी। हैमंड (१८८०-८३) की बनायी मशीन में लाइन पढ़ने के लिये स्याही के फीते (रिबन) को नीचे खिसकाना पड़ता था। विलियम्स (Williams) की मशीन में एक पंक्ति तो पढ़ी जा सकती थी, पर दूसरी के छपते ही यह ओझल हो जाती थी। १८९३ में ओलिवर (Oliver) ने जो मशीन बनायी उसमें पिछले १० अक्षर ही पढ़े जा सकते थे, पूरी पंक्ति को पढ़ने के लिये कैरिज आगे-पीछे खिसकानी पड़ती थी।

सन् १८९४ में वैगनर (F. X. Wagner) ने ऐसी मशीन बनायी जो आगे से उठकर ऊपर को स्ट्रोक मारती थी। पहले की

मशीनों में अक्षर पीछे से उठकर नीचे को स्ट्रोक मारते थे। इनमें छपाई बेलन के नीचे होने के कारण ओझल रहती थी। वैगनर के बाद इस विधि में जिसने सबसे अधिक सुधार किया वह व्यक्ति अंडरवुड (J. T. Underwood) था, रेमिंगटन के समान जिसका नाम भी बहुत प्रसिद्ध है। इसने टाइपराइटर में सर्वांगी सुधार किये। धनुषाकार क्रम में इसने अक्षरों को लगाया। अक्षरों के मुँह ऊपर की ओर ऐसे रक्खे कि समय-समय पर उनकी सफ़ाई की जा सके। अंडरवुड की मशीनों से छपी पंक्तियाँ आँखों के सामने रहती थीं। आजकल टाइपराइटर के व्यवसाय में अंडरवुड कंपनी का नाम जगत् विख्यात है। इसके एक कारख़ाने के भीतर २० एकड़ के लगभग ज़मीन है।

टाइपराइटर के कारख़ाने

टाइपराइटर में लगभग ३००० पुर्ज़े होते हैं। इन सब का बनाना साधारण काम नहीं है। हर एक पुर्ज़ा विशेष मशीन से बनाया जाता है। पूरे टाइपराइटर का असली ढाँचा एक टुकड़े में ही ढाला जाता है। यह काम भी बड़ी कुशलता से करना पड़ता है। स्वयंचालित मशीनों द्वारा पेंच, पिन, रिवेट आदि सब पुर्ज़े खटाखट इस ख़ूबी से कारख़ाने में ढेर के ढेर तैयार होते जाते हैं जिनको देखकर आश्चर्य होता है। सब पुर्ज़े जब अलग-अलग तैयार हो गये तो कुशल शिल्पी इनको आपस में जुटाने का काम करते हैं। तैयार मशीन पर तब रंग चढ़ाया जाता है, नाम और नंबर छापा जाता है। चोरी होने पर मशीन पकड़ी जा सके, इसलिये हर मशीन का अलग-अलग नंबर होता है।

टाइपराइटर मशीन की विशेषतायें ये हैं जिनका ध्यान कारख़ानों में रक्खा जाता है:—रोलर या बेलन जिस पर कागज़ लिपटता है और जिसपर आकर टाइप भी गिरता है, ऐसा मृदु

हो कि टाइप खराब तो न हो और इतना कठोर हो कि अक्षर छप जाय। अक्षर छपते ही अपने स्थान पर फिर गिर कर आ जाय। छपते ही कैरिज अपने आप थोड़ी सी खिसक जाय जिससे दूसरा अक्षर पहले अक्षर पर न गिरे। छपने के साथ-साथ स्याही का फीता भी अपने आप थोड़ा-थोड़ा खिसकता रहे नहीं तो फीता फट जायगा और स्याही शीघ्र ख़तम हो जायगी। पंक्ति जितनी लम्बी रखनी हो, ठीक उतने की व्यवस्था हो। पूरी पंक्ति समाप्त होने से कुछ अक्षर पूर्व घंटी बजे। एक पंक्ति के बाद कैरिज को फिर अपने मूल स्थान पर खिसकने का प्रबन्ध हो, और साथ ही साथ स्पेस दूसरी पंक्ति के लिये ठीक हो जाय। कैरिज को पीछे एक अक्षर खिसकाने की व्यवस्था हो। स्याही का फीता कई रंग का भी लगाया जा सके, और जब चाहें मशीन से लाल छापें और जब चाहें काला। मशीन छापते समय अधिक शोर भी न करे। इनके अतिरिक्त और भी टाइपराइटर की विशेषतायें हैं।

बहीखाता वाली मशीनें

आज कल तो हरेक काम के लिये अलग-अलग टाइपराइटर मशीनें बनायी गई हैं। मामूली टाइपराइटर में तो अलग-अलग कटे काग़ज़ के पृष्ठ काम आते हैं, पर अब तो ऐसी मशीनें भी बन गई हैं जो मोटे जिल्द बंधे (रजिस्टरों के पृष्ठों पर भी छाप सकें। ये मशीनें न केवल रुपये, आने, पाई, या पौंड, शिलिंग, पेंस छापती हैं, बल्कि लम्बे-लम्बे जोड़ अपने आप जोड़ डालती हैं। आप जोड़ में चाहे गलती भी कर दें, पर इन मशीनों के जोड़ों में कभी भूल नहीं होती। सन् १९०६ में इलियट-फिशर (Elliot Fisher) नामक व्यक्ति ने एक ऐसी मशीन का पेटेंट लिया। इस मशीन में मोटा रजिस्टर प्लेटों के बीच में कस दिया जाता था, और खुले पृष्ठ को फ्रेम में मज़बूती से दबाते थे।

फिर लिवर आदि से ऐसी व्यवस्था रहती थी कि पृष्ठ अपनी जगह पर ही रहता था, और टाइपों सहित मशीन दायें-बायें, ऊपर-नीचे खिसकती थी।

पहले अंडरवुड टाइपराइटर में अंकों को सारिणीबद्ध करने का आयोजन रक्खा गया था। सन् १६०७ में रेमिंगटन ने जोड़ने और घटाने वाली मशीन बनाई। इसमें बाद को बहुत से सुधार हुये। सन् १६१५ में जो मशीन तैयार हुई वह बहुत ही पूर्ण थी। बाद को रेमिंगटन के अतिरिक्त दूसरी फर्मों ने भी ऐसी मशीनें बनायीं। अब तो ऐसी मशीनें बन गई हैं जो न केवल ऊपर-नीचे घटा और जोड़ सकती हैं, बल्कि साथ-साथ दायें से बायें खानों में लिखे अंकों को भी जोड़ सकती हैं। आपको ख्याल होगा कि रजिस्टरों में हिसाब दोनों ओर से मिलाना पड़ता है—ऊपर-नीचे और दायें-बायें।

आप प्रयाग के बिजली घर के दफ़्तर में अपना बिल चुकाने जाइये। आप देखेंगे कि मशीन द्वारा आपके बिल का चुकतान होता है और उनके बहीखाते में भी मशीन से रोज़ का रोज़ हिसाब जुड़ता रहता है।

गणित के टेढ़े हिसाब निकालने वाली मशीनें

टाइपराइटर के कलाकारों ने अपनी मशीनों में ऐसी बुद्धि प्रदान कर दी है कि जोड़ने और घटाने की क्या बात, ये मशीनें लम्बे-लम्बे गुणा और लम्बे-लम्बे भाग इतनी जल्दी कर लेती हैं जितना आप नहीं कर सकते। कहा जाता है कि पैसकल (Pascal) ने सबसे से पहले हिसाब लगाने वाली मशीन बनाई थी जिससे जोड़ना, घटाना और गुणा हो सकते थे। यह मशीन बहुत कुछ टाइपिस्ट की बुद्धि पर भी निर्भर रहती थी, अतः इससे भूलें अधिक हो जाती थीं। इसके बाद प्रसिद्ध गणितज्ञ लाइबनित्स (Leibnitz) ने कुछ सुधार किये। डा० सॉण्डरसन को भी इन

मशीनों में विशेष रुचि थी। ये महोदय बचपन से अन्धे थे फिर भी प्रखर बुद्धि के कारण इतने बड़े गणितज्ञ हो गये कि कैम्ब्रिज में वे प्रोफेसर बने।

गणितज्ञ-मशीनों के बनाने में सबसे अधिक श्रेय चार्ल्स बैबेज (Charles Babbage) को है। वह इस बात का अनुभव करता था कि यदि कोई निर्भ्रान्त मशीन बन जाय जो शीघ्र गणना भी कर सके तो उससे ज्योतिषियों और नाविकों का बड़ा लाभ हो। उसकी बनाई पहली मशीन का नाम "डिफरेन्स इंजिन" पड़ा क्योंकि डिफरेन्स अर्थात् अंकों के अन्तर के आधार पर यह गणना करती थी। मशीन से काम करने वाले व्यक्ति का केवल काम यह था कि वह मशीन में पुरजे इस प्रकार लगा दे जो विशेष अन्तर के सूचक थे। बाद को मशीन इतने ही अन्तर की अनेक संख्यायें हैंडल घुमाते ही क्रम पूर्वक दे देगी। इस मशीन की सहायता से लघुरिक्थ (Logarithms) सारणियाँ और ज्योतिष की सारणियाँ छापने में सहायता मिली। यह काम १८२७ के लगभग का है।

बैबेज के डिफरेन्स इंजिन से सभी संख्याओं के वर्ग भी निकाले जा सकते हैं। यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि प्रत्येक संख्या का वर्ग अन्त में जाकर एक दूसरे से बराबर अन्तर पर ही माना जा सकता है—

मशीन की सहायता से वर्ग निकालना

वर्ग	पहला अन्तर	दूसरा अन्तर
१^{२} = १		
२^{२} = ४	३	
३^{२} = ९	५	२
४^{२} = १६	७	२
५^{२} = २५	९	२
६^{२} = ३६	११	२

पहले खाने में संख्याओं के क्रमशः वर्ग दिये गये हैं। दूसरे खाने में क्रमशः वर्गों के अन्तर (४—१), (९-४) आदि, दिये हैं। यह पहला अन्तर एक दूसरे से भिन्न है। तीसरे खाने में पहले अन्तर की संख्याओं का क्रमशः अन्तर (५—३),

(७—५) आदि दिया है। आप देखेंगे कि यह दूसरा अन्तर सदा २ ही रहेगा।

बैबेज ने ऐसी मशीन बनायी जिसमें तीन पहिये थे, और तीनों पर गिनतियाँ लिखी थीं। तीन पहियों पर उसने मान लीजिये कि १-३-२ ये संख्यायें एक बार लगा दीं। जब उसने हैंडिल घुमाया तो ऐसी व्यवस्था रही कि दूसरे ख़ाने की संख्या पहले ख़ाने में जुड़ गयी और तीसरे ख़ाने की संख्या दूसरे ख़ाने में। एक बार हैंडिल घुमाने पर तीनों पहियों में क्रमशः ४-५-२ ये गिनतियाँ निकलीं, दूसरी बार घुमाने पर ९-७-२। इसी प्रकार घुमा घुमा कर पूरी वर्ग सारणी तैयार हो गई।

इस काम के लिये बैबेज ने ४ पहियों की मशीन से काम लिया। घनों को पहले खाने में क्रमशः लिखा गया है। पहला अन्तर (८—१), (२७—८) आदि दूसरे खाने में, फिर दूसरा अन्तर (१९—१), (३७—१९) आदि तीसरे ख़ाने में, और जब तीसरा अन्तर (१८—१२), (२४—१८) चौथे ख़ाने में लिखा तो यह बराबर ६ ही निकला।

मशीन की सहायता से घन निकालना

घन	पहला अन्तर	दूसरा अन्तर	तीमरा अन्तर
१^3 = १	७	१२	६
२^3 = ८	१९	१८	६
३^3 = २७	३७	२४	६
४^3 = ६४	६१	३०	६
५^3 = १२५	९१	३६	
६^3 = २१६	१२७		
७^3 = ३४३			

इस आधार पर बैबेज ने पहियों पर पहले १-७-१८-६ अंक लगा दिये। प्रत्येक बार हैंडिल घुमाने पर पहले ख़ाने की संख्या से दूसरे ख़ाने की संख्या जुड़ गयी, दूसरे से तीसरे की और तीसरे से चौथे की। इस क्रम से एक बार हैंडिल घुमाने पर ८-१९-१८-६

अंक निकली। दूसरी बार घुमाने पर २७-३७-२४ – ६, क्रमशः अनेक बार हैंडिल घुमाने पर सभी अंकों के घन निकल आये।

आपको यह जान कर आश्चर्य होगा कि मशीनों से समीकरण भी हल किये जा सकते हैं। आप चाहें हल करने में ग़लती भी कर दें, पर मशीन भूल नहीं कर सकती। मान लीजिये कि आपके दो समीकरण ये हैं जिन में य और र का मान निकालना है—

मशीन से समीकरणों को हल करना

क य + ख र = ग

च य + छ र = ज

आप जानते हैं कि इन दोनों से य का मूल्य निम्न निकलेगा—

$$य = \frac{छ ग - ख ज}{छ क - ख च}$$

आपकी मशीन गुणा करना भी जानती है, घटाना भी और भाग देना भी। अतः आप छ ग, ख ज और छ ग - ख ज, और इसी क्रम से सब का मान निकालते हुये य का मान निकाल लेंगे। इसी विधि से र का मान निकल आयेगा।

बैबेज ने अपनी खोजों का वृत्तान्त जुलाई १८३४ को एडिनबरा रिव्यू पत्रिका में छपवाया। इसे पढ़कर स्टाकहोल्म के ज्योर्ज शूट्ज़ (George Schutz) का जो एक मुद्रक था ध्यान इस ओर विशेष आकर्षित हुआ। उसने अपने पुत्र एडवर्ड की सहायता से हिसाब लगाने वाले इंजिन को पूर्ण करने का प्रयास किया। १८४३ में उन्होंने ऐसी मशीन तैयार की जो न केवल ५ अंकों तक की संख्याओं का हिसाब लगा सकती थी, बल्कि ठीक उत्तर को साथ ही छाप भी देती थी! उन्हें स्वेडिश एकेडेमी से मशीन का प्रमाणपत्र तो मिल गया पर इस मशीन के लिए खरीदार न जुट सके। सन् १८५३ में स्वेडिश सरकार की आर्थिक सहायता से शूट्ज़

ने दूसरी मशीन तैयार की जिसका १८५५ में इंगलैंड और पेरिस की प्रदर्शिनी में प्रदर्शन हुआ। यह बाद को अमरीका भी पहुँची। इसका आकार छोटे पियानो के बराबर था। यह आठ अददों तक की संख्यायें छापती थी, और बड़े-बड़े सवाल लगा सकती थी। छपी संख्याओं में कहीं भूल होती ही न थी। अगर कहीं भूल अन्तिम उत्तर में हुई भी, तो वह अपने आप मशीन सुधार लेती थी।

१८६० के लगभग रजिस्ट्रार जनरल के लिये शूट्ज ने १२०० पौंड में एक मशीन तैयार करके दी, और फिर तो इन मशीनों के बनाने का काम औरों ने भी आरंभ किया। अब तो मशीनों द्वारा उच्च गणित के चलन समीकरणों को भी हल किया जा सकता है।

———